

भारतीय ज्ञान परंपरा में आजीवक



ईश कुमार गंगानिया

जन्म:

15 अगस्त 1957

शिक्षा:

एम.ए. (अंग्रेजी व राज. विज्ञान)
व बी.एड.

कृति:

हिंदी में-

12 काव्य संग्रह, 1 गज़ल संग्रह,
1 कहानी संग्रह, 1 उपन्यास,
2 पुस्तकें मूलनिवासियों के संघर्ष पर,
8 किताबें साहित्यिक आलोचना व
समकालीन मुद्दों पर व एक आत्मवृत्त

अंग्रेजी में-

1 कहानी संग्रह, 1 उपन्यास,
1 कविता संग्रह, 1 ओटोबायोग्राफी

ikgangania@gmail.com

भारतीय ज्ञान परंपरा से हमारा तात्पर्य उस ज्ञान-विज्ञान की परंपरा से है जो प्राचीन काल से शुरू होती है और वर्तमान से होते हुए भविष्य की ओर सतत अग्रसर रहती है। इस परंपरा के अनुसरण के दौरान हम लौकिक, अलौकिक, धर्म-कर्म, भोग-उपभोग, त्याग-तपस्या, जीवन-मृत्यु आदि से जुड़े अनेक अध्ययनों के साथ-साथ विभिन्न संस्कृतियों के रूबरू होते हैं। ऐसा प्रचलित है कि ज्ञान परंपरा की यात्रा प्राचीन काल में मौजूद ऋषि और गुरुकुल से शुरू होती है; यह तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, उज्जयिनी, काशी आदि विश्व प्रसिद्ध शिक्षा और शोध के प्रमुख केंद्रों से होते हुए आधुनिक विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों के माध्यम से निर्बाध रूप से जारी है। ज्ञान के संवर्धन की इस परंपरा में देश-विदेश की राजनीतिक व भौगोलिक सीमाएं सदैव गौण रहती हैं; और ज्ञान परंपरा का कारवां ज्ञान के आपसी आदान-प्रदान के साथ निरंतर चलता रहता है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद के 'भाषा शिक्षा विभाग' द्वारा आयोजित वर्तमान संगोष्ठी 'भारतीय ज्ञान परंपरा का सातत्य'

भी इसी परंपरा का स्वाभाविक अंग है। मुझे 'भारतीय ज्ञान परंपरा में आजीवक संस्कृति' पर बात करना है, जिसका किसी ऋषि या गुरुकुल परंपरा से कोई वास्ता नजर नहीं आता। यह कार्य एक अंधेरी कोठरी (अंधेरी कोठरी ही नहीं, बल्कि एक अंधकार युक्त जंगल) में काली बिल्ली की तलाश करने जैसा है। ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि आजीवक से संबंधित कोई विश्वसनीय जानकारी उपलब्ध नहीं है। जो कुछ भी इस संस्कृति के विषय में उपलब्ध है, वह बेहद भ्रामक, छितराई व विरोधाभासी है। दूसरे, हम पाते हैं कि यह सारी जानकारी इस संस्कृति को नष्ट करने और इसे बदनाम करने वालों के साहित्य में उपलब्ध है, जो इस स्थिति को करेला और ऊपर से नीम चढ़ा जैसा बनाती है। यह भारतीय ज्ञान परंपरा का वह काला अध्याय है, जिसमें ज्ञान की एक परंपरा ने, ज्ञान की एक दूसरी यानी चार्वाक/लोकायत/आजीवक परंपरा का नामोनिशान मिटाने में मर्यादा की सारी हदें पार कर दी। कहने की जरूरत नहीं कि नामोनिशान मिटाने की यह परंपरा आज भी जारी

है।

इसके विपरीत एकलव्य का अंगूठा न रहने का यह अर्थ नहीं निकाल लिया जाना चाहिए कि एकलव्यों ने अपने आपको तीरंदाजी यानी ज्ञान की परंपरा से डिसोन कर लिया है। आज ये हाथ से ही नहीं, बल्कि मुंह और पैरों से भी तीरंदाजी करने की क्षमता रखते हैं। आजीवक को लेकर मौजूदा कवायद यही है कि हमें विरोधियों के साहित्य में उपलब्ध छिन्न-भिन्न कर दिए गए बेहद सीमित यानी ना के बराबर अवशेषों की मदद से इस संस्कृति को पुनः अपने पैरों पर खड़ा करना है। हमारे लिए यह किसी प्रतिद्वंद्विता या प्रतिशोध का विषय नहीं है, बल्कि पतन की दिशा में अग्रसर वर्तमान समाज को इस पतन से रोकना है। यह किसी से छिपा नहीं है कि प्राचीन काल में आजीवक संस्कृति के विलुप्तिकरण के पीछे जो तथाकथित धार्मिक व राजनीतिक ताकतें मौजूद थीं, कमोबेश उसी मानसिकता की पोषक ताकतें आज भी सक्रिय हैं; और समाज को भ्रमजाल में फंसाकर, अपने संकीर्ण हितों को साधने के लिए समाज का दोहन कर रही हैं। मानवता को खंडित करने वाला यह अपराध किसी देशद्रोह से कम बड़ा अपराध है। इस आलेख का मकसद समाज को आजीवक संस्कृति से रूबरू कराना है; एक बेहतर नागरिक और बेहतर समाज के निर्माण की प्रक्रिया में सार्वभौमिक वैज्ञानिकता, व्यवहारिकता और नैतिकता को सुनिश्चित करना है।

आजीवक संस्कृति को समझने से पहले 'आजीवक' और इसके चार्वाक यानी लोकायत दर्शन से संबंध को समझना जरूरी है। आनंद झा के

अनुसार—'चार्वाक' यही एक ऐसा नाम है जो कि सर्वथा 'अनुच्छिष्ट' (शुद्ध, जिसमें मिलावट नहीं) है। सर्वथा अनुच्छिष्ट कहने से तात्पर्य यह है कि न यह किसी का उच्छिष्ट (जूठन) है और न इसका कोई लोक प्रस्तुति के कारण 'लोकायत', कहलाने वाले दर्शन के सर्वप्रथम आचार्य का नाम इतना अप्रसिद्ध हो, यह कम आश्चर्य की बात नहीं।¹ आनंद झा ने यह बात चार्वाक दर्शन के विलुप्तिकरण की नाकाम साजिशों को बेनकाब करने की गरज से कही लगती है। इस एक टिप्पणी से कई बातें स्पष्ट होती हैं, एक— यह दर्शन 'प्राचीन' है, दो— 'मौलिक' है और तीन—यही 'लोकायत' दर्शन है।

इस कड़ी में अगला प्रश्न है— 'आजीवक' कौन? इस प्रश्न के उत्तर की तलाश में पुनः आनंद झा से रूबरू होना हमारी जरूरत है; बाध्यता है। इसके अनुसार—'लोकायत-सिद्धान्त अनुगामी जन ही 'आजीवक' नाम से इसलिए अभिहित होते थे कि शरीरात्मवादी होने के कारण शरीर के सदुपयोगार्थ, उसकी रक्षा के लिए आजीवक को, अर्थात् श्रमात्मक आजीविका को, वे मुख्य कर्तव्य के रूप में अपनाते थे। एतदतिरिक्त यह भी कारण था आजीवक नाम से उनके पुकारे जाने का, कि वे श्रमोपयोगी स्वास्थ्य के लिए सदा सचेष्ट रहते थे।

क्योंकि आजीवक का दूसरा अर्थ, पूर्ण रूप से जीवन का, अर्थात् स्वास्थ्य जीवन का संपादन भी होता है। शरीर को आत्मा मानने वाले अपने स्वास्थ्य-स्वरूप जीवन के संपादन में सर्वथा सचेष्ट हों, यह सर्वथा युक्तिसंगत ही है। इन सारी बातों पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दर्शन जन-जीवन से निष्ठता रखने वाले कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि, राजनीति-स्वरूप दण्डनीति और स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेद इन तीनों से पूर्ण रूप से सम्बद्ध था।²

जहां तक इसकी उपयोगिता का प्रश्न है, कहने की जरूरत नहीं कि जो इस दर्शन में मौजूद है, वह अपने प्राचीन काल का ही नहीं, बल्कि वर्तमान का बेहतर प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता है। अगर इसे शिक्षा जगत की वर्तमान चर्चित शिखिसयतों में से एक डा. विकास दिव्यकीर्ति के शब्दों में समझें तो हमारे सामने जो तस्वीर उभरती है, वह उल्लेखनीय है—'अगर चार्वाक ग्रंथों को जलाया नहीं गया होता तो दुनिया में सबसे अधिक वैज्ञानिक भारत में होते, क्योंकि वे तर्कवादी थे। अगर चार्वाक दर्शन को बचाया गया होता तो यूनिवर्सिटी के हर विभागाध्यक्ष के नाम के सामने चार्वाक लिखा होता।'³ जाहिर है कि यह चिंतन-दर्शन तर्क-विवेक और वैज्ञानिकता पर आधारित था। निस्संदेह, यह प्रकृति के नियम, न्याय व नैतिकता की सार्वभौमिकता पर

“अगर चार्वाक दर्शन को बचाया गया होता तो यूनिवर्सिटी के हर विभागाध्यक्ष के नाम के सामने चार्वाक लिखा होता।” जाहिर है कि यह चिंतन-दर्शन तर्क-विवेक और वैज्ञानिकता पर आधारित था। निस्संदेह, यह प्रकृति के नियम, न्याय व नैतिकता की सार्वभौमिकता पर आधारित था।”

आधारित था। लेकिन यह भी जग जाहिर है कि 'आजीवक संस्कृति' के पोषक साहित्य को जलाया गया है, नष्ट किया गया है।

प्रश्न उठता है, इस संस्कृति और इससे जुड़े चिंतन-दर्शन को नष्ट करने वाले कौन थे? डा. एल. डी. बार्नेटके अनुसार-इस अपरिष्कृत पंथ से असहमति सबसे पहले उपनिषदों में दिखाई दी, जिसमें कुछ उदारवादी ब्राह्मणों ने, शायद कुछ सैन्य अभिजात वर्ग द्वारा समर्थित, एक प्राथमिक अद्वैतवादी आदर्शवाद की अटकलों को आगे बढ़ाया, जबकि वेदवाद के किले को अज्ञानी लोगों के उपयोग के लिए बरकरार रखा। लेकिन इस समय के आसपास ब्राह्मणवादी कर्मकांड के लिए एक बहुत बड़ा खतरा पैदा हो गया, और दूर-दूर तक फैल गया, जिससे कुछ ब्राह्मण खुद भी प्रभावित हुए; अब तक, ब्राह्मणवादी रूढ़िवाद की बुनियाद को पूरी तरह से नकार दिया गया था, और जो लोग नए और सच्चे सिद्धांत का दावा करते थे, उनके प्रचारक कई तरफ से उठ खड़े हुए। इस क्रांतिकारी आंदोलन ने कई चरण धारण किए। कुछ हलकों में, ब्राह्मणवादी और गैर-ब्राह्मणवादी, यह चार्वाक के नाम से जुड़े एक मोटे नास्तिक भौतिकवाद के रूप में सामने आया।⁴

बार्नेट की उपरोक्त टिप्पणी स्पष्ट संकेत देती है कि सबसे पहले आजीवकों

का विरोध उपनिषदों में मिलता है जो ब्राह्मणवादी कर्मकांड और इसके रूढ़िवाद लिए खतरा बनता है। यह क्रांतिकारी आंदोलन कई चरणों में हुआ और चार्वाक के नाम से जुड़े एक मोटे नास्तिक भौतिकवाद के रूप में सामने आया। गौरतलब है, चार्वाक अपने समय का इकलौता नास्तिक धर्म-दर्शन था; और नास्तिकता का पैमाना वेदों, जिसे बार्नेट के अनुसार 'अज्ञानी लोगों के उपयोग के लिए बरकरार रखा', को न मानना और वेदों की निंदा करना था। यदि यह कहा जाए कि चार्वाक यानी आजीवक का विरोध उपनिषदों से भी पहले का है तो इसे गलत नहीं ठहराया जाना चाहिए। इस कड़ी में ए. एल. बाशम आजीवकवाद के उदय पर और रोशनी डालते प्रतीत होते हैं, जब वे कहते हैं- 'प्राचीन भारत में दार्शनिक चिंतन की सीमा हिंदू धर्म की विभिन्न शाखाओं द्वारा निर्धारित सीमाओं से परे थी, और यहां तक कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म के महान विधर्मी संप्रदायों द्वारा निर्धारित सीमाओं से भी परे थी। पूर्ण भौतिकवादी समूहों, चार्वाक या लोकायत की उपस्थिति, जो आत्मा, देवताओं और भविष्य के जीवन के अस्तित्व को नकारते थे, बहुत प्रसिद्ध है।⁵ स्पष्ट है कि आजीवकवाद का हिंदू धर्म से टकराव बुद्ध और महावीर से भी पुराना है। मौजूदा संदर्भ में इस

हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता कि जैन, बौद्ध और आजीवक संप्रदाय का उदय हिंदू धर्म के विरोध में हुआ था। बहुत संभव है कि यह पुराना टकराव आजीवकवाद की अपेक्षा चार्वाक/लोकायत नाम से मौजूद रहा हो।

बाशम आगे बताते हैं- 'ऐसे कई शिक्षकों (जो हिंदूवाद के प्रतिरोध में थे) ने अनुयायियों के समूहों को इकट्ठा किया और संघों की स्थापना की, शायद कुछ मामलों में एक दूसरे से शिथिल रूप से जुड़े हुए थे; और इनमें से कुछ से आजीवकवाद विकसित हुआ-जो अपने संस्थापक की मृत्यु के लगभग दो हजार वर्षों तक जीवित रहा।⁶ इस टिप्पणी से साफ है कि पहले समूहों और संघों (जो आपस में थोड़ा कम सक्रिय रूप से जुड़े थे) की तुलना में मक्खलि गोसाल के नेतृत्व में उनका संघ अपनी गतिविधियों के कारण काफी सक्रिय हो गया हो, जिसके चलते 'आजीवक' और 'आजीवकवाद' जैसे पद चर्चा के केंद्र आ गए। इसका मतलब यह नहीं हो जाता कि आजीवकवाद की शुरुआत या आजीवकवाद के जनक मक्खलि गोसाल हैं, जो महावीर और बुद्ध के लगभग समकालीन (छठी सदी ई.पू.) हैं। इस संबंध में विकास दिव्यकीर्ति की टिप्पणी-श्रमण यानी सीकर्स, जो वेदों से असंतुष्ट थे (यानी वेदों की आलोचना करते थे), उनकी संस्थाओं (आंदोलन-कारी) की संख्या 63 थी।⁷ काबिल-ए-गौर है।

बहुत संभव है कि गोसाल को आजीवक संप्रदाय का संस्थापक बनाना यानी लोकायत/चार्वाक को आजीवक

“ऐसे कई शिक्षकों; जो हिंदूवाद के प्रतिरोध में थे, ने अनुयायियों के समूहों को इकट्ठा किया और संघों की स्थापना की, शायद कुछ मामलों में एक-दूसरे से शिथिल रूप से जुड़े हुए थे और इनमें से कुछ से आजीवकवाद विकसित हुआ-जो अपने संस्थापक की मृत्यु के लगभग दो हजार वर्षों तक जीवित रहा।”

से अलगाना, उसी साजिश का हिस्सा हो सकता है, जिस साजिश के तहत इस संस्कृति के साहित्य को प्रक्षिप्त किया गया, जलाया गया और अंततः विलुप्त करने का प्रयास किया गया। ऐसा भी नहीं है कि यह प्रक्षिप्तिकरण प्राचीन काल तक सीमित था। कबीर-रैदास के साथ भी अनेक प्रकार के किस्से कहानियां इसी प्रकार के प्रक्षिप्तिकरण का परिणाम हैं। आज पाठ्यक्रमों में अनेक प्रकार के बदलाव, नेताओं के भाषणों में इतिहास के संबंध में ऊल-जुलूल, शरारतपूर्ण व गैर-जिम्मेदाराना बयानबाजी भी इसी श्रेणी में आते हैं। शहरों और सड़कों के नाम बदलना आदि भी कमोबेश इसी प्रक्षिप्तिकरण का हिस्सा हैं। विश्वसनीयता की परख के लिए पुनः बाशम की पुस्तक में उपलब्ध टिप्पणी काबिल-ए-गौर है-‘धार्मिक सुधारक शायद ही कभी किसी पुराने विश्वास के आधार के बिना अपने नए विश्वास के केंद्रीय सिद्धांतों को तैयार करता है, जिस पर निर्माण किया जा सके; इसके बजाय वह पहले की शिक्षाओं को दोहराता है, संशोधित करता है, या उन पर नया प्रकाश डालता है, और यह दोहराना उसके समकालीनों के लिए एक नए रहस्योद्घाटन की ताकत और नवीनता है।’⁸ कहा जा सकता है कि चार्वाक और हिंदू धर्म के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप ही बुद्ध का धम्म और महावीर का जैन धर्म अस्तित्व में आया। इन्होंने अपने-अपने धर्म-दर्शन की बुनियाद एकदम नए सिरे से नहीं रखी। धर्म के संबंध जो आपसी टकराव की परिस्थितियां थी, उन्हीं को संशोधित कर नए धर्म की स्थापना की। इन दोनों

धर्मों के संस्थापकों द्वारा चार्वाक/आजीवक का विरोध और प्रतिद्वंद्विता इसी का परिणाम हो सकता है। विकास दिव्यकीर्ति इस हकीकत को पुख्ता करते नजर आते हैं, जब वे टिप्पणी करते हैं-‘बौद्ध, महावीर और अद्वैत सभी चार्वाक निंदक थे। कहावत है कि हम अपने मामले में अच्छे वकील और दूसरों के मामलों में अच्छे जज होते हैं।’⁹ मौजूदा संदर्भ में हिंदुत्ववादियों की तरह बौद्ध और जैन भी अपने मामले में अच्छे वकील और आजीवकों के मामले में अच्छे जज बने बैठे हैं। ये दिल खोलकर आजीवकों की आलोचना/निंदा करने में एक दूसरे से पीछे नहीं हैं।

हम जानते हैं कि मौजूदा विवाद का कोई अंत नहीं है, इसलिए आगे बढ़ते हैं। हम यह भी अच्छे से जानते हैं कि भौतिकवादी दार्शनिकों यानी आजीवकों का जिन आर्यों के विरुद्ध क्रांतिकारी आंदोलन था, वे तो आज भी अपने वेदों, आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि अवधारणाओं और मान्यताओं के साथ के साथ हिंदू, हिंदुत्व, सनातनी और न जाने कितनी प्रकार की जातिवादी व वर्चस्ववादी पहचान के साथ मौजूद हैं। लेकिन दीगर सवाल है-चार्वाक/लोकायत यानी आजीवक कौन थे और अब वे कहाँ हैं? यह सवाल बहुत ही पेचीदा है और विस्तृत विचार की मांग करता है। इस पेचीदगी को समझने के लिए पहले डा. धर्मवीर से रूबरू होते हैं, उनके अनुसार-‘मौर्य साम्राज्य में भी आजीवक धर्म का दबदबा रहा था। चंद्रगुप्त मौर्य बाद में जैन हो गए थे, पर उनके बेटे बिन्दुसार आजीवक ही रहे थे। बिन्दुसार के बेटे अशोक, आजीवक माता-पिता की सन्तान थे।

अशोक आजीवक भी रहे और बाद में बौद्ध की तरफ झुक गए। कहने का तात्पर्य यह है कि मौर्य साम्राज्य का कोई सम्राट ब्राह्मण धर्म का अनुयायी नहीं रहा। तब मौर्य को भी शूद्र कहना उचित नहीं है-इसका मतलब केवल यह है कि अवर्ण आजीवक समाज का विरोधी खेमों की चतुर्वर्ण समाज व्यवस्थाओं से महायुद्ध चल रहा है। इस बारे में इसके सिवा कुछ और न समझा जाए कि पूरा और एकजुट आजीवक समाज, वर्ण व्यवस्थाओं के चारों वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-से लड़ रहा है। इस का मतलब यह भी है कि आजीवक समाज के लिए-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों शब्द विदेशी उच्चारण और बाहरी मूल के हैं।’¹⁰

हम जानते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चारों वर्णव्यवस्था के आधार स्तंभ हैं; और वर्णव्यवस्था में हिंदू यानी सनातनियों जान बसती है। ये वर्ण और जातियों के समूह हैं। बानगी के रूप में इस वर्ण और जाति के खेल को 1921-1922 में गुजराती के ‘नव जीवन’ अखबार में व्यक्त गांधी जी यानी राष्ट्रपिता के विचार के माध्यम से समझते हैं-‘मेरे विचार से अब तक हिंदू समाज अपनी जाति प्रथा के कारण जीवित है। जाति प्रथा में स्वराज के बीज मौजूद हैं। जाति प्रणाली विकसित करने वाले समाज में आश्चर्यजनक संगठन क्षमता होती है। जातियों के माध्यम से ही प्राथमिक शिक्षा का प्रसार होता है। एकता के लिए अंतर्जातीय विवाह की अनुमति न देने से ही इसे बुरा नहीं माना जा सकता। नियंत्रित व मर्यादित जीवन का दूसरा नाम जाति

प्रथा है। जाति को नष्ट करने का अर्थ पैतृक पेशों को नष्ट करना होगा। अपने पैतृक पेशे छोड़कर यदि ब्राह्मण शुद्ध और शुद्ध ब्राह्मण बनने लगेंगे तो समाज का काम ही ठप्प हो जाएगा। जाति प्रथा एक प्राकृतिक विधान है।¹¹

डा. धर्मवीर अपनी टिप्पणी के माध्यम से बता रहे हैं कि चतुर्वर्ण व्यवस्था से जो बाहर हैं, वे आजीवक है। स्पष्ट है, इन्हें सरकारी भाषा में अनुसूचित जाति-जनजाति कहा जाता है और आम बोलचाल की भाषा में ये खुद को दलित कहते हैं। लेकिन डा. धर्मवीर उन दलितों से बेहद खफा हैं जो धर्मांतरण कर बुद्धिज्म या अन्य धर्मों को अपना रहे हैं। वे टिप्पणी करते हैं-‘आज दलित लोग अपनी पहचान खोने के लिए लड़ रहे हैं जबकि अन्यत्र संसार में लोग अपनी पहचान बनाए रखने के लिए लड़ते हैं। बिल्कुल कहा जा सकता है कि जो समाज अपनी पहचान खोने के लिए लड़ता है वह कभी जीत नहीं सकता। किसी भी धर्मान्तरण में दलित समाज अपनी पहचान ही खोता है।’¹²

सवाल है-अपनी पहचान खोने के लिए कौन लड़ता है? इसके जवाब में बशीर बद्र का शेर-कुछ तो मजबूरियां रही होंगी यूं कोई बेवफा नहीं होता, काफी हद तक सटीक बैठता है। ये मजबूरियां ही तो हैं, जो इतिहास का आजीवक अपनी सम्मानजनक अस्मिता की तलाश में आज भी कभी मुसलमान, तो कभी ईसाई; कभी सिख, तो कभी बौद्ध; और न जाने कितने तथाकथित अस्मितामूलक संप्रदायों और धर्मगुरुओं की चौखट पर माथा रगड़ रहा है, लेकिन उसकी अस्मितामूलक पहचान

की यात्रा खत्म होने का नाम ही नहीं लेती। इसी कदम ताल के चलते आज इस देश का मूलनिवासी सैधव यानी आजीवक संभवतः उससे भी बदतर हालत में है, जो इस संस्कृति के विनाशकों ने चाहा था। भले ही आज संविधान का शासन है, लेकिन आजीवक संस्कृति के संवाहकों के विरुद्ध, सिंधु घाटी की सभ्यता से शुरू हुई जंग आज भी विभिन्न मुखौटों की आड़ में बराबर जारी है। इतिहास का आर्य जो पहले घुसपैठिया था, आज वह स्वामी है और पहले से अधिक ताकतवर हो गया है; क्योंकि आज सत्ता, शासन-प्रशासन, प्रचार तंत्र सब उसके नियंत्रण में हैं; और तथाकथित न्याय भी उसकी चौखट पर हाजिरी देकर ही आगे बढ़ता है। साहित्य और इतिहास उसके घर के दास बनकर रह गए हैं; इसलिए इतिहास के चार्वाक/लोकायत संस्कृति के संवाहक आजीवक के अवशेष मिलना भी दुर्लभ हो रहा है। परिणामस्वरूप, आजीवक खुद अपनी संस्कृति का नाम तक भूल गए हैं। आज ये जातियों की जंग में उलझ कर रह गए हैं। कभी ये जाति उन्मूलन की बात करते हैं तो कभी जातियां मजबूत करने की। ऐसे विवादों का न आदि है और न अंत; बस एक अजीब-सा जुनून है, जिसने आजीवकों को सुकून छीन लिया है।

इस सब के बावजूद, इसी इतिहास, जिसकी विश्वसनीयता के विषय में डा. अम्बेडकर, डब्लू एण्ड एस के हवाले से बताते हैं-‘प्राचीन इतिहास मूलतः कोई इतिहास ही नहीं है। उस प्राचीन भारत का कोई एक इतिहास नहीं है। इसके बहुत सारे इतिहास हैं। लेकिन ये अपना चरित्र खो चुके हैं।

इसे महिलाओं और बच्चों के मनोरंजन का साधन मात्र बना दिया गया।’¹³ लेकिन हमारे पास दूसरा विकल्प नहीं है, इसलिए हम मानते हैं कि इतिहास में जैसे भी उपलब्ध अवशेष हैं, हमें उन्हीं से तलाश करना है-आजीवक कौन थे? इस कड़ी में सबसे पहले हम इतिहासकार कश्यप की टिप्पणी का उल्लेख करना चाहते हैं। इसके अनुसार-‘अनार्य दुर्गों और नगरों में रहते थे। आर्यों ने उनका उन्मूलन किया, उनके दुर्गों और पुरों का विध्वंस करके अनार्यों को दक्षिण के पर्वतों की ओर ढकेल दिया। कहा जाता है कि उनमें से बहुतों ने पर्वतों में शरण ली और उनमें से बहुतेरे गोंड, खांड, कोल, भील, संधाल, औराव, भुण्डादि उन्हीं के वंशज हैं। उनमें से बहुत से पकड़ लिए गए और दास घोषित कर दिए गए। इन्हीं में से आज हिंदुओं की वर्ण व्यवस्था के अंतिम स्तर के शूद्र हैं।’¹⁴ जो बात कश्यप कह रहे हैं, आदिवासियों के बारे में ठीक ऐसे ही निष्कर्ष, सुप्रीम कोर्ट के पूर्व जज मार्कंडे काटजू ‘द वायर’ के यू-ट्यूब चैनल पर 16 नवम्बर 2024 अपने साक्षात्कार में, साक्षात्कारकर्ता जाने माने वकील कपिल सिब्बल के समक्ष पेश करते हैं।

गौरतलब है कि उपरोक्त टिप्पणी में अंतिम स्तर के शूद्र का सीधा-सा संबंध हिंदूवादी वर्णव्यवस्था से बाहर मौजूदा दलितों से है। कोसम्बी के अनुसार-‘इस सिलसिले में निश्चित ही लिखित सामग्री और पुरातत्व खोज से मिलने वाली जानकारी दोनों एक-दूसरे से मेल खाती हैं। इसलिए विश्वास करने के कई आधार हैं कि कम से कम कुछ बातों में ‘असुर’ शब्द का

अर्थ था—सिंधु घाटी की स्थापना करने वाले।¹⁵ यहां कोसम्बी स्पष्ट करते हैं कि सिंधु घाटी के वारिसों को ‘असुर’ कहा गया। ‘असुर’ यानी दलितों को अपमानित करने के लिए प्रयोग की जाने वाली अनेक संघाओं में से ‘एक संघा’। कहने की जरूरत नहीं कि अंतिम स्तर के शूद्र, दास, दस्यु, दलित, हरिजन, चाण्डाल, अस्पृश्य, अनार्य, असुर आदि वे अपमानजनक अलंकरण हैं जो इस देश के सभ्य और सुसंस्कृत समाज के द्वारा इस देश के मूलनिवासी सैंधव/चार्वाक/लोकायत यानी आजीवकों के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं।

इस हकीकत को विश्वसनीयता की कसौटी पर परखने के लिए कंवल भारती, जिन्होंने आजीवक पर एक पुस्तक भी लिखी है, की टिप्पणी से रूबरू होना अनिवार्य महसूस हो रहा है, इसके अनुसार—‘आर्य जब भारत में आए, तो विचार के स्तर पर उनका संघर्ष लोकायत से हुआ। आर्यों द्वारा अनार्यों को दास, दस्यु कहकर अपमानित करना और भारी संख्या में उनको मौत के घाट उतारना आकस्मिक नहीं था। उसके मूल में संस्कृति विरोध ही था। ऋग्वेद की एक ऋचा इसकी साक्षी है, जिसमें कहा गया है—अकर्मा दस्युरयिनो अमंतुन्यव्रतीः अमानुषाः। तस्या मित्रहन्वध दसिष्य दंभय॥ (ऋग्वेद 10-22-8) ‘अर्थात् हम चारों ओर दस्यु जाति से घिरे हैं। ये यज्ञ नहीं करते, उनके कर्मकाण्ड भिन्न हैं, वे मनुष्य नहीं हैं। हे शत्रुहंता, उन्हें मारो। दस्यु जाति का विनाश करो।’¹⁶ इस मारने और विनाश करने की इंटेन्सिटी को इतिहासकार डा. दीनानाथ के शब्दों में समझें अगर, तो तस्वीर कुछ इस प्रकार की बनती

“आर्यों ने जिस सभ्यता/संस्कृति यानी सिंधु सभ्यता पर आक्रमण किया था, वे लोकायत/चार्वाक यानी अनार्य, दास, दस्यु आदि सभी आजीवक संस्कृति के संवाहक हैं। यही वे लोग हैं जिन्हें ऋग्वेद में यज्ञ न करने वाले, अलग कर्मकांड करने वाले हैं, कहा गया।”

है—‘कुछ लोगों का अनुमान है कि बार-बार आग लगने से यह सभ्यता बरबाद हो गई। सिंधु की खुदाई की राख की एक-दूसरे के बाद सात तह मिली हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि सिंधु घाटी के नगर सात बार बसे और सात बार उजड़े। इसी लिए मोहनजोदड़ो को ‘मुर्दों का टीला’ भी कहा जाता है।’¹⁷

कंवल भारती की उपरोक्त टिप्पणी से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आर्यों ने जिस सभ्यता/संस्कृति यानी सिंधु सभ्यता पर आक्रमण किया था, वे लोकायत/चार्वाक यानी अनार्य, दास, दस्यु आदि सभी आजीवक संस्कृति के संवाहक हैं। यही वे लोग हैं जिन्हें ऋग्वेद में यज्ञ न करने वाले, अलग कर्मकांड करने वाले हैं, जो मनुष्य नहीं हैं, कहा गया है और इनका विनाश (सिंधु घाटी के नगरों का सात बार तक उजड़ना या उजाड़ा जाना) करने का आह्वान किया गया है। सत्य के परीक्षण की इस यात्रा में हम एम. व्हीलर की टिप्पणी का उल्लेख करना जरूरी समझते हैं, इसके अनुसार—‘मौजूदा दलित, अस्पृश्य, आदिवासी आदि ही सिंधु घाटी के मूलनिवासी हैं जिनका विनाश आर्यों ने किया था।... ‘आज के विद्वान ऋग्वेद में उल्लेखित हरियूपिया को सिंधु घाटी का हड़प्पा नामक स्थान मानना चाहते हैं।’¹⁸ यद्यपि वर्तमान

अनुसूचित जाति-जनजाति के मूलनिवासी यानी आजीवक होने के और भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, हमें लगता है कि उपरोक्त प्रमाण ही पर्याप्त हैं, वरना विषयांतर का खतरा पैदा हो जाएगा।

अब हम आजीवक संस्कृति की कुछ परिचयात्मक प्रमुख विशेषताओं पर बात करते हैं जिनकी वजह से आजीवक संस्कृति को विलुप्तिकरण का शिकार होना पड़ा। इस संदर्भ में हम शुरू से ही रेखांकित करके चलना अनिवार्य समझते हैं कि हम इस संस्कृति पर चर्चा इस नजरिए से कर रहे हैं कि ‘यह वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने में हमारी किस प्रकार मदद कर सकती है।’ यह कैसे एक तर्क-विवेक व वैज्ञानिक टेपरामेंट, जिसकी वर्तमान समाज को नितांत आवश्यकता है, को हमारे जीवन का अंग बनाने में सहायक हो सकती है। कैसे यह अंधी आस्था के अंधकार में दीपक बनकर हमारे जीवन में उजाला ला सकती है; और कैसे यह समाज और देश ही नहीं, बल्कि मानवता के विकास में अहम् भूमिका अदा कर सकती है।

इस कड़ी में हमारा आग्रह है कि जहां भी चार्वाक/लोकायत शब्द का प्रयोग है, उसे आजीवक और उसकी संस्कृति के रूप में ही समझा जाए; क्योंकि जैसाकि पहले उल्लेख किया गया है कि लोकायत-सिद्धांत अनुगामी

जन ही 'आजीवक' है। शरीर और आत्मा अलग नहीं, एक ही है। शरीर के सदुपयोग, स्वास्थ्य और श्रमात्मक आजीविका ही आजीवक नाम से पुकारे जाने का प्रमाण है। इसमें जन-जीवन से घनिष्ठता रखने वाले कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि, राजनीति-स्वरूप दण्डनीति और स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेद, इन तीनों से पूर्ण रूप से सम्बद्ध रहे हैं।' आजीवक संस्कृति की यह तस्वीर कुछ अधूरी लगती है। हमें लगता है कि डा. दीनानाथ वर्मा इसे पूरा करने में सहायक हो सकते हैं, उनके अनुसार—'सिंधु घाटी सभ्यता क्षेत्र में खुदाई से जो वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह सभ्यता शांति प्रधान सभ्यता थी और इसका विकास अत्यंत शांतिमय वातावरण में हुआ था। बड़े मार्को की बात है कि उत्खनन में कवच, ढाल, तलवार, शिरस्त्राण आदि युद्धोपयोगी सामान नहीं मिले हैं। यहां धनुष-बाण, कुल्हाड़ी, माला आदि आखेटिय प्रवृत्ति के द्योतक हो सकते हैं ...अन्य प्राचीन सभ्यताओं की अपेक्षा सैधव सभ्यता का नैतिक स्तर ऊंचा था और वहां के निवासी वाणिज्य, व्यापार, कला कौशल की उन्नति पर अपने देश को सुखी और समृद्ध बनाना चाहते थे।'¹⁹

उपरोक्त सभी कार्यों का संपादन स्वस्थ शरीर द्वारा ही संभव है, इसलिए शरीर आजीवकों की सर्वोच्च प्राथमिकता रही है। इस लिए इनके विषय में कहा गया है—*यावत् जीवेत्, सुखम् जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥* इस कथन को लेकर आजीवकों के निंदकों द्वारा इनकी निंदा की यही वजह है कि आजीवक संस्कृति

“भगवती सूत्र के हिंदी भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है—‘उस युग में भी जब स्वयं तीर्थंकर विद्यमान थे, गोशालक जैसा पाखण्डी व्यक्ति अधिक लोकप्रिय बन गया था। भगवान् महावीर के अनुयायियों की संख्या केवल एक लाख उनसठ हजार थी, जबकि गोशालक के अनुयायी ग्यारह लाख इकसठ हजार थे।’”

के अनुयायी आम आदमियों की तरह श्रम आधारित आजीविका के संवाहक थे। वे किसान, कारीगर थे, व्यापारी सब थे और इसी तरह के अन्य लोग थे। यदि एक वाक्य में कहा जाए तो 'क्या आम और क्या खास, आजीवक संस्कृति में सभी श्रम आधारित आजीविका का निर्वहन करते थे'। यह इनकी संस्कृति को खास बनाती है, क्योंकि इसमें शारीरिक श्रम का भरपूर सम्मान रहा है, लेकिन अपने यहां आज स्थिति इसके एकदम उलट है। श्रम आधारित आजीविका को हेय दृष्टि से देखा जाता है और पारिश्रमिक भी बहुत मामूली दिया जाता है। इस कड़ी में थोड़ा और आगे बढ़ते हैं—'उनकी संख्या भी बौद्धों से ज्यादा थी। कारण यही था कि आजीवकों द्वारा समाज सुधार पर अत्यधिक बल दिया जाता था। बौद्ध लोग मक्खलि गोसाल की आलोचना किया करते थे। समय-समय पर आजीवकों और बौद्धों के बीच खुली मुठभेड़ हुआ करती थी।'²⁰ इस कड़ी में भगवती सूत्र के हिंदी भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है—...‘उस युग में भी जब स्वयं तीर्थंकर विद्यमान थे, गोशालक जैसा पाखण्डी व्यक्ति अधिक लोकप्रिय बन गया था। भगवान् महावीर के अनुयायियों की संख्या केवल एक लाख उनसठ हजार थी, जबकि गोशालक के अनुयायी ग्यारह लाख

इकसठ हजार थे।'²¹ गौरतलब है, यह लोकप्रियता हवा में नहीं होती, लोकप्रियता के लिए ठोस आधार होता है; जाहिर है, आजीवकों के आधार के ठोस होने के प्रमाण रहे हैं, तभी यह लोकप्रिय था। यह पूर्वाग्रह नहीं तो क्या है कि गोशालक को पाखंडी कहा जा रहा है।

हम जानते हैं कि इनकी तर्क-विवेक के आधार पर वेद निंदा करने के कारण आजीवकों को पाखंडी कह कर मजाक उड़ाया जाता है। इन्हें गैर-जिम्मेदार और इनकी दुनिया सिर्फ खाने-पीने तक सीमित बताई जाती है। लेकिन हम यह मानते हैं कि उस समय उत्तम स्वास्थ्य के लिए घी सर्वोत्तम आहार रहा होगा। संभवतः इसी गरज से आजीवक संस्कृति में ऋण लेकर भी घी पीने की बात कही गई है। यदि ऋण लेकर भी उत्तम स्वास्थ्य अर्जित किया जाता है और स्वास्थ्य को बरकरार रखा जाता है, तो इससे बेहतर और क्या हो सकता है। क्योंकि स्वस्थ शरीर के माध्यम से जीवन के सारे क्रियाकलाप संभव हैं; और शरीर की बदौलत ही परिश्रम करके कोई भी ऋण चुकाया जा सकता है। कह सकते हैं कि शारीरिक स्वास्थ्य के दम पर ही मानसिक और सामाजिक जीवन का आनंद लिया जा सकता है। यही इनके सुख का आधार है। यह भौतिक सुखों तक सीमित नहीं होता, बल्कि इसकी

अंतिम परिणति मानसिक सुख और सुकून में होती है, जिसे परमानंद कहते हैं। आजीवक संस्कृति में शरीर और स्वास्थ्य की प्राथमिकता को समझने के लिए एक कहावत का उल्लेख जरूरी महसूस हो रहा है। इसके अनुसार-यदि धन की क्षति हुई है, तो कोई क्षति नहीं हुई है, अगर स्वास्थ्य की क्षति हुई है, तो कुछ की क्षति हुई है और यदि चारित्रिक क्षति हुई है, तो सब कुछ की क्षति हुई है। ऐसा लगता है कि यह कहावत आजीवक संस्कृति की बदौलत ही अस्तित्व में आई है।

दूसरे, आजीवकों का यह मानना कि इस नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने के बाद यानी उसके राख बन जाने के बाद कुछ हासिल होने वाला नहीं है; क्योंकि शरीर के अस्तित्व में आने के लिए जरूरी चारों तत्व अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी अपने-अपने मूल स्रोत में मिल जाते हैं। इसी लिए आजीवक संसार को किसी ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं मानते। हम कह सकते हैं कि पृथ्वी और पृथ्वी पर जो कुछ भी मौजूद है, उसके अस्तित्व में आने के पीछे चार्ल्स डार्विन की इवोल्यूशन की थ्योरी सबसे अधिक स्वीकार्य है; और आजीवक संस्कृति मोटा-मोटी इस थ्योरी के करीब नजर आती है (यहां इस विषय पर इरादतन संकेत मात्र दिया जा रहा है)। दूसरे, आजीवक संस्कृति में दूसरा जन्म नहीं है। यही जन्म सब कुछ है और मृत्यु ही मोक्ष है। जीवन में सुख ही स्वर्ग है और दुख ही नरक। इसे राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में कुछ प्रकार समझा जा सकता है-‘प्राचीन चार्वाक-ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं, पुनर्जन्म नहीं और परलोक नहीं। जीवन के भोग

त्याज्य नहीं, ग्राह्य हैं। तजुर्बे (अनुभव) और बुद्धि को हमें सत्य के अन्वेषण के लिए अपना मार्गदर्शक बनाना चाहिए।’²² इसे डा. धर्मवीर के शब्दों कुछ प्रकार समझा जा सकता है-‘आजीवक के विषय में ‘पहला सूत्र है-नो धम्मो श्ति। उनका दूसरा सूत्र है-नो तवो श्ति। उनका तीसरा सूत्र है-नत्थि पुरिस्कारे। कोई ऐसा धर्म नहीं है जो तुम्हें मरने के बाद अमुक योनि में पैदा कर देगा; कोई ऐसा तप नहीं अमुक योनि में पैदा कर देगा; कोई ऐसा पुरस्कार नहीं है जो तुम्हें मरने के बाद पुनर्जन्म के रूप में मिलने वाला।’²³

जाहिर है, शारीरिक श्रम आजीवकों के यहां काम एकैवः पुरुषार्थ की अवधारणा के चलते व्यक्ति द्वारा किए गए कार्य ही जीवन में सुखों को सुनिश्चित कर सकते हैं। आजीवकों को अकर्मण्यवादी और भाग्यवादी कहने वालों की समझ दुरुस्त करने के लिए आजीवक संस्कृति के काम रूपी सर्वोच्च पुरुषार्थ को डा. हरिपाद चक्रवर्ती से समझते हैं। उनके अनुसार-‘बौद्ध ग्रंथों से प्रमाण दिए गए हैं कि राजगृह के पाण्डु पुत्र नाम के आजीवक साधु एक रथ निर्माता के पुत्र थे। जब उसने एक गाड़ी-निर्माता के काम का कमाल देखा तो वह खुशी में जोर-जोर से चिल्लाया था। कुछ आजीवक भविष्य वक्ताओं का काम करते थे। जनसान नाम आजीवक साधु राजा बिंदुसार का दरबारी था। इन उदाहरणों से मालूम होता है कि आजीवक साधु भीख पर निर्भर नहीं थे, बल्कि वे अपने जीवन में विभिन्न सामाजिक पेशों से जुड़े हुए होते थे।’²⁴ इस टिप्पणी में ‘भविष्य वक्ता’ का जिक्र आया है, यह आजीवक

संस्कृति से मेल नहीं खाता है; क्योंकि इनका सब कुछ आज पर और अनुभवजन्य निष्कर्षों पर आधारित होता है, तो भविष्य वक्ता होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, खैर...।

तस्वीर को और अधिक साफ करने के लिए पुनः डा. हरिपाद चक्रवर्ती को बीच में लाते हैं। उनके अनुसार-‘आजीविय’ का उस व्यक्ति से संबंध है जो अपनी जीविका के लिए कुछ नियमों का पालन करता है। उन्होंने बौद्धों के अष्टांगिक मार्ग में आए हुए शब्द ‘सम्यक आजीव’ की याद दिलाई है। लेकिन वहां यह आजीवकों से चुराया हुआ शब्द है। चक्रवर्ती ने यह संभावना जरूर जताई है कि पहले समय से ही कुछ साधु ऐसे होते थे जो जीविका के लिए पेशों को अपनाए रहते थे। मक्खलि गोसाल से जुड़े ‘मंखत्व’ के बारे में उन्होंने माना है कि यह चित्र प्रदर्शन का पेशा था और मक्खलि के पिता इसी पेशे को अपनाए हुए थे। बाण के ‘हर्ष चरितम्’ में ‘यम पट्टिका’ का होना भी यही दर्शाता है। इसलिए यह संभव है कि आजीवक साधु भीख मांगने के बजाय चित्र प्रदर्शन के पेशे को अपनाए रहते थे।’²⁵

आजीवकों में बिना किसी स्तरीकरण के ‘काम/कार्य’ की प्राथमिकता है। उनके यहां काम के बंटवारे के लिए न किसी वर्णव्यवस्था की जरूरत थी और न ही किसी जाति प्रथा की, लेकिन आज वर्ण और जाति प्रथा वर्तमान भारतीय समाज का ऐसा कोढ़ है, जिसका कोई इलाज यदि संभव है तो वह आजीवक संस्कृति में ही संभव है। आजीवक संस्कृति में वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा की स्थिति समझने के लिए

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश की मदद ली जा सकती है। इसके अनुसार-‘सवाल है कि मक्खलि गोसाल आचार्यों और उपाध्यायों को अवर्णवादी क्यों बना रहे थे। उत्तर यह है कि आचार्य और उपाध्याय अपने आपको वर्णवादी घोषित कर रहे थे। यह आचार्यों और उपाध्यायों का घमंड था जो उनके वर्ण के रूप बोलता था। मक्खलि गोसाल ने उन के इसी घमंड पर चोट की थी।... जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार अवर्णवाद की परिभाषा-‘गुण वाले बड़े पुरुषों में जो दोष नहीं हैं उनका उनमें उद्भावन करना अवर्णवाद है।’- ग्रंथ ‘राज वार्तिक’ को उद्धृत करते हुए लिखा गया है-‘ये श्रमण शूद्र हैं-इत्यादि संघ का अवर्णवाद है।’²⁶ रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री इसे और स्पष्ट करते हुए बताते हैं-जो अधार्मिक जन हैं वर्णाश्रम की मर्यादा से वहिर्भूत (बाहर) हैं, वर्णसंकर हैं, कारीगरी या शिल्पकर्म करने वाले हैं, देवताओं ने उनको ही इन पिशाचों की आजीविका बनाई है’²⁷

ए एल बाशम इस कोढ़ को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं-‘गोसाल ने अपने मुख्यालय में कुम्हार की कार्यशाला का उपयोग किया होगा, और बर्तनों का उपयोग आजीवक तपस्या में किया जाता था, ‘ये दोनों मिलकर यह संकेत देते हैं कि यह संप्रदाय किसी तरह से कुम्हार जाति से विशेष रूप से जुड़ा हुआ था, और अपने सदस्यों को विशेष रूप से आकर्षित करता था।’²⁸ हमें लगता है कि यहां ‘कुम्हार’ जाति का परिचायक नहीं, बल्कि व्यवसाय का परिचायक है। डा. हरिपाद चक्रवर्ती आजीवक संस्कृति के गरिमामय इतिहास को कुछ इस प्रकार आगे बढ़ाते हैं-‘गौरतलब है

कि आजीवक धर्म के दरवाजे बिना जाति और लिंग का भेद किए कमाने वाले सभी पेशों के लोगों के लिए समान रूप से खुले हुए थे। उदाहरण के लिए बिम्बिसार के एक संबंधी आजीवक मत के अनुयायी हो गए थे। इस धर्म में औद्योगिक और व्यापारिक वर्ग के लोग बहुतायत में जुड़े थे। हालाहला नाम की स्त्री जिन्होंने गोसाल के साथ 16 वर्ष गुजारे, एक कुम्हारी थीं। सद्दाल पुत्र भी कुम्हार थे। उन्होंने पोलासपुर में आजीवक संघ की सभा आयोजित की थी। लगता है, इस धर्म का कुम्हारों से विशेष संबंध था।’²⁹

विश्लेषण की इस प्रक्रिया में जाति, धर्म और वर्ण से आगे यह देखना जरूरी हो जाता है-आजीवक संस्कृति में लिंग भेद की स्थिति क्या थी, कैसी थी? हम पाते हैं कि आजीवक संस्कृति में रामचरित मानस के सुंदर कांड में मौजूद ‘ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी’ जैसी अवधारणा नहीं है। यहां स्त्री की मान-मर्यादा व गरिमा मौजूद है। इसे डा. हरिपाद चक्रवर्ती की टिप्पणी से समझते हैं-‘किसी भी धार्मिक मामले में स्त्री का महत्व कम नहीं है। आजीवक धर्म में स्त्री पाप योनि नहीं है। वे नहीं मानते कि स्त्री के संसर्ग से पाप की सृष्टि होती है। विरोधियों के द्वारा की गई आलोचना से पता चलता है कि गोसाल के अनुयायियों को स्त्रियों का गुलाम कहा गया है।’³⁰ डा. हरिपाद चक्रवर्ती स्त्री के धार्मिक मामले तक सीमित न रहकर वे इसे जीवन की साधना से जोड़ते हुए टिप्पणी करते हैं-‘आजीवक धर्म की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्त्री को छोड़ कर जीवन की

साधना नहीं होती। यही नहीं, इस समाज में स्त्री और पुरुष दोनों समानता के स्तर पर रहते हैं।’³¹ गौरतलब है कि यहां छठी सदी ई.पू. की बात हो रही है। कल्पना की जा सकती है कि सैंध व यानी सिंधु घाटी सभ्यता के दौरान यह कितनी गरिमामय रही होगी, जिसे रामचरित मानस, तथाकथित महान ग्रंथ में ताड़न की अधिकारी कह कर नारी के सारे तर्क-विवेक और स्वतंत्रता को बांझ बनाकर रख छोड़ा है। वर्तमान नारी उत्पीड़न की लगभग सभी घटनाओं के मूल में ‘ताड़न की अधिकारी’ वाली सोच काम करती है, जिसके तहत नारी पुरुष के हाथों की कठपुतली से अधिक कुछ नहीं है।

इस कड़ी में डॉ. धर्मवीर द्वारा व्यक्त स्थापना काबिल-ए-गौर है। इसके अनुसार-‘गोसाल ने हालाहला से विवाह किया था। इसी वजह से महावीर ने गोसाल को भ्रष्ट कहा था। महत्व अंजलिकम्म का है। महावीर और बुद्ध अंजलि कम्म के विरोधी थे। यह अंजलि कम्म क्या है? हाथ जोड़ कर स्त्री को प्रणाम करना है। गोसाल ने हाथ जोड़ कर स्त्री को प्रणाम किया था। अपने मरते समय भी उन्होंने अपनी पत्नी हालाहला को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया था जिसे ‘चरिमे अंजलि कम्म’ कहा जाता है।’³² आजीवक परंपरा पर प्रकाश डालते हुए डा. धर्मवीर महावीर की सोच को जगजाहिर करते हुए बताते हैं-‘असल में, गोसाल और महावीर में बिगड़ी किस बात पर थी; जबकि ये दोनों छह सालों तक साथ-साथ रहे थे? बिगड़ी इस बात पर थी कि मक्खलि गोसाल ने स्त्री को साथ रखने का निर्णय लिया था। उन्होंने ब्रह्मचर्य की

इस परिभाषा को त्याग दिया था कि गृहस्थ और बाल-बच्चेदार आदमी होने से धर्म भंग होता है।³³

आजीवक संस्कृति के व्यापक कैनवास को समझने के लिए पुनः डॉ. धर्मवीर से रूबरू होते हैं। उनके अनुसार-‘आजीवक चिंतन यह है कि राजा तो राजा, एक धर्म पुरुष को भी बिना परिवार और स्त्री के नहीं रहना चाहिए-आजीवक लोग परिवार रखते हैं और कमा कर खाते हैं-यह एक फैशन हो चला है कि जो जिस किसी भी क्षेत्र में काम करना चाहता है, वह उसके लिए सबसे पहले स्त्री, बच्चे और परिवार को त्यागे। ऐसे तो किसी को विज्ञान में, किसी को सेना में, किसी को डॉक्टरी में, किसी को इंजीनियरी में, किसी को साहित्य, संगीत, नृत्य या कला में और किसी को अनन्य क्षेत्र में काम करना होता है, तो क्या वे सब यही कहने लगेंगे कि उन्हें स्त्री और परिवार का त्याग करना है?’³⁴

इस संस्कृति में स्त्री त्याग करने के लिए नहीं है। यह आदमी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर साथ चलने के लिए है; क्योंकि यहां लिंग भेद नहीं है। इसलिए स्त्री आजीवक की परिभाषा से बाहर नहीं है, जो बताती है-‘आजीवक’ शब्द का अगला विकास ‘आजीविका’ में होता है। आजीविका को खाना-कमाना, रोजगार, कमाई आदि कहा जाता है। इससे आदमी की गुजर-बसर होती भी पेशा हो, यह वही है और इस में हुनर की आवश्यकता होती है। ‘आजीविका’ को छोटा कर के मात्र ‘जीविका’ भी कहा जाता है-जीविकोपार्जन हेमचन्द्र की पुस्तक ‘अभिधान चिन्तामणि’ में भी इस शब्द के छह अर्थ दिए गए

हैं।³⁵ स्पष्ट है कि आजीवक संस्कृति में किसी भी प्रकार के काम, भले ही यह चिंतन-मनन व समाज सेवा से ही क्यों न जुड़ा हो, इसके लिए स्त्री और परिवार त्यागने की आवश्यकता नहीं है। यह संस्कृति इससे एक कदम आगे बढ़कर स्त्री को पुरुष की तरह काम करने को प्रेरित करती है। यह आजीवक संस्कृति जैसी सोच का ही परिणाम है कि स्त्री आज सेना तक में अनेक पदों पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं। कहने की जरूरत नहीं कि आजीवक संस्कृति में परिवार का हर सदस्य आजीवक है, जीविकोपार्जन की प्रक्रिया का हिस्सा है।

आजीवक के विषय में व्याप्त नकारात्मकता से संस्कृति के सकारात्मक व यथार्थपरक पक्ष को समझने लिए थोड़ा आगे बढ़ते हैं। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं कि आर्यों ने इस देश के मूलनिवासियों यानी आजीवकों को नेस्तनाबूद करने का कोई अवसर नहीं छोड़ा; और उन्हें अनेक नियोग्यताओं से लादा। यद्यपि जैन धर्म और बौद्ध धम्म, आर्यों यानी हिंदू धर्म/सम्प्रदाय के विरुद्ध अस्तित्व में आए; लेकिन उन्होंने भी आजीवकों के साथ दुश्मन जैसी ही प्रतिद्वंद्वी व नकारात्मक भूमिका निभाई। भगवती सूत्र के हिन्दी भाष्यकार आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार-‘उस युग में भी जब स्वयं तीर्थंकर विद्यमान थे, गोशालक जैसा पाखण्डी व्यक्ति अधिक लोकप्रिय बन गया था। भगवान् महावीर के अनुयायियों की संख्या केवल एक लाख उनसठ हजार) थी, जबकि गोशालक के अनुयायी ग्यारह लाख इकसठ हजार थे।³⁶ यहां गोशाल को पाखंडी कहा जा रहा है जबकि गोशाल के विषय में

जानकारी मिलती है कि वे स्वयं आजीवकों के चौबीसवें तीर्थंकर थे और उनके अनुयायियों की संख्या जैन और बौद्ध दोनों से अधिक थी। सवाल उठता है-यदि गोशाल पाखण्डी थे तो उनके अनुयायियों की संख्या जैन और बौद्धों से अधिक कैसे हो सकती है; और यह दो हजार से भी अधिक वर्षों तक कैसे अस्तित्व में रहा? लेकिन आलम है कि जैन और बौद्ध साहित्य में आजीवकों के खिलाफ पूर्वाग्रह की भरमार है।

इस कड़ी में लोमहंसज टाला में कहा गया है कि बोधिसत्व स्वयं एक बार आजीवक बन गए थे। नग्न और एकाकी, वे लोगों को देखते ही हिरण की तरह भाग जाते थे। वह कूड़ा-कचरा, छोटी मछलियाँ और गोबर खाता था।³⁷ यदि इस प्रकार की घटना को थोड़ी देर के लिए सच भी मान लिया जाए, तो यह इस समाज का सामूहिक यथार्थ नहीं है, बल्कि किसी व्यक्ति विशेष की मानसिक विकृति का परिणाम हो सकती है, समग्रता में किसी धर्म-सम्प्रदाय की स्थाई प्रवृत्ति नहीं। झूठ फैलाने की यह भेड़ चाल यहीं नहीं रुकती, इस नासमझी को सच का जामा पहनाने के लिए हमारे सामने बालक जम्बूक की कहानी पेश की जाती है जिसमें बताया गया है-‘जम्बूक ने बहुत कम उम्र में ही नग्नता और मल खाने की प्रवृत्ति विकसित कर ली थी, और इसके लिए उसके माता-पिता ने उसे आजीवक संघ में शामिल कर लिया था। कारण चूंकि वह अपने घृणित आहार से पूरी तरह संतुष्ट था, इसलिए उसने जाने से इनकार कर दिया।³⁸ जम्बूक को मल खाने और नग्नता के चलते आजीवक संघ में शामिल करना, एक यह संकेत

भी देता है वहां इस प्रकार के मानसिक विकारों के मुक्ति का मार्ग उपलब्ध हो। यह आजीवकों के उत्तम चरित्र और समस्या निवारण के कुशल प्रबंधन का द्योतक हो सकता है। इसके विपरीत, अगर इस टिप्पणी से यह संकेत देने का प्रयास किया जा रहा है कि आजीवक मल खाते थे और नग्न रहते थे, तो इसे धूर्तता की पराकाष्ठा के अलावा कोई और नाम देना मेरे वश की बात नहीं है, खैर...

आजीवकों के खानपान के नकारात्मक प्रचार से बाहर, सिक्के के दूसरे पहलू पर बात करते हैं। इस पहलू के अनुसार—‘बौद्धों और जैनों की तरह आजीविका अहिंसा में विश्वास करते थे, और आमतौर पर शाकाहारी थे। यह असंभव नहीं है जैसा कि वायु पुराण इंगित करता है, उनमें से कुछ ने जादुई अनुष्ठानों का अभ्यास किया, जिसमें रक्त बहाना शामिल था—ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध और महावीर, दोनों ने धार्मिक नेताओं के रूप में अपने करियर के दौरान कम से कम एक बार मांस खाया था।’³⁹ भले ही जैनों और बौद्धों ने आजीवकों पर बेबुनियाद आरोप लगाए हैं लेकिन उपरोक्त उदाहरण के आधार पर हम बुद्ध, महावीर और इनके पूरे समाज पर मांसाहारी होने का आरोप नहीं लगा सकते। यह अलग बात है कि आज विज्ञान और चिकित्सा ने मांसाहार को सामान्य आहार की तरह

देखा है, कुछ मामले इसे बेहतर बताया है। इसके चलते आजकल मांसाहार को उस तरह से घृणित नजरिए से नहीं देखा जाता, जैसे बुद्ध और जैन के काल में देखा जाता रहा होगा।

ऐसे बिना हाथ-पैर के किस्सों से रूबरू होते हुए अचानक मुझे अपने यशस्वी प्रधानमंत्री की याद आती है। वे अपने चुनावी भाषण के दौरान अपने विरोधी राजनीतिक दलों के विरुद्ध नॉन-स्टॉप अनर्गल बयानबाजी के दौरान इंसानी जीवन के हर क्षेत्र को झूठ से ऐसे पाट देते हैं कि कुछ समय के लिए तो इसे सुनने वाला अंधभक्त भी शर्मसार होने से बच नहीं सकता। यहां उन घटनाओं और बयानबाजी का उल्लेख करना गैर-जरूरी महसूस हो रहा है। इस प्रकार के पूर्वाग्रह को समझने के लिए हमें सिक्के के दूसरे पहलू यानी इस संस्कृति के सकारात्मक पक्ष से रूबरू होना जरूरी महसूस हो रहा है। ‘तीर्थंकरों की कुल संख्या चाहे जो भी हो, यह स्पष्ट है कि गोशाल को अपने अनुयायियों के बीच, जैनियों के बीच महावीर के बराबर दर्जा प्राप्त था, और उनके साथ बहुत सम्मान से पेश आया जाता था।’⁴⁰ —भगवती सूत्र के अपने अंतिम दिनों के विवरण के दौरान गोशाल के बारे में दो बार कहा जाता है कि उन्होंने वर्तमान अवसर्पिणी युग के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर की स्थिति के लिए खुद दावा किया है।⁴¹ ये दोनों

टिप्पणियां स्पष्ट संकेत देती हैं कि गोशाल महावीर से किसी भी रूप में कमतर नहीं हैं और समाज में उनकी स्वीकार्यता उल्लेखनीय है।

विश्लेषण की इस कड़ी में थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तो पाते हैं—‘अभिजात्यों के वर्गीकरण से संकेत मिलता है कि आजीवक जैनों को पवित्रता में अपने से दूसरे स्थान पर मानते थे। बौद्धभिक्षु तीसरे स्थान पर थे, और रूढ़िवादी ब्राह्मण को संभवतः काले वर्ग में दुष्ट कुरुर-कम्मत के साथ शामिल किया गया था, हालांकि, जैसा कि दिखाया गया है, ‘कुछ संकेत हैं कि शुरुआती आजीवक अभ्यास और सिद्धांत कुछ मामलों में बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अभ्यास और सिद्धांतों की तुलना में रूढ़िवाद के करीब थे।’⁴² उपरोक्त टिप्पणी एक अनूठे स्तरीकरण की ओर संकेत करती है जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध और जैन, तीनों आजीवक से निचले पायदान पर मौजूद हैं। यह आजीवक को फिट फॉर नथिंग की श्रेणी में रखने वालों की आंखें खोलने वाला है।

गोशाल और आजीवक समाज पर नग्नता का आरोप लगा कर कठारे में खड़ा करने वालों के लिए ए एल बाशाम की यह टिप्पणी काबिल-ए-गौर है। इसके अनुसार—‘भगवती सूत्र में कहा गया है कि उनकी मृत्यु पर गोशाल मंखलिपुत्त के शव को एक शानदार वस्त्र पहनाया गया था और आभूषणों से सुसज्जित किया गया था, जो यह सुझाव देता है कि किसी प्रकार का पोषीय ठाठ-बाट आजीवकवाद के नेताओं के लिए अज्ञात नहीं था।’⁴³ साफ है कि आजीवक समाज वस्त्र और ओढ़ने-पहनने के मामले में अपने

“तीर्थंकरों की कुल संख्या चाहे जो भी हो, यह स्पष्ट है कि गोशाल को अपने अनुयायियों के बीच, जैनियों के बीच महावीर के बराबर दर्जा प्राप्त था, और उनके साथ बहुत सम्मान से पेश आया जाता था।”

समकालीन समाजों से किसी भी रूप में पिछड़ा नहीं था। स्पष्टता की गरज से थोड़ा आगे बढ़ते हैं तो पाते हैं—‘भारत के बाहर भी आजीवकों के चित्रण मौजूद हैं। बोरोबुदुर में एक मूर्ति नव प्रबुद्ध बुद्ध की आजीवक उपका से मुलाकात को दर्शाती है; उपका के साथ यहां दो साथी आजीवक हैं, और तीनों ने एक अजीबोगरीब स्कर्ट जैसा परिधान पहना हुआ है और बालों को सावधानी से सजाया हुआ है (प्लेट II)।¹⁴⁴

इस संस्कृति में ओढ़ने-पहनने के अलावा भी आनंद और मौज-मस्ती और भी साधन उपलब्ध थे। अभयदेव द्वारा दो मार्गों (मग्ग) की परिभाषा से संदेह मजबूत होता है, जो छह दिसाचरों ने आठ महानिमित्तों के साथ पुष्कों से गोसाल की मृत्यु से कुछ समय पहले सम्मेलन में निकाला था। टिप्पणीकार के अनुसार, ये ‘गीत और नृत्य हैं। आजीवकों की आठ अंतिमताओं में से दो को करिमगेये और करिमनट्टे, अंतिम गीत और नृत्य कहा जाता है,’ और गोशाला ने स्वयं अपने अंतिम प्रलाप में गाया और नृत्य किया था।¹⁴⁵

वैसे भी आजीवक समाज कोई गया-बीता समाज नहीं था। इसमें कारीगर, व्यापारी और शासक, सभी रहे हैं। ये सामाजिक और आर्थिक मामले में किसी से कम नहीं थे। उस समय के समाज और आजीवकों की वेशभूषा के मामले को लेकर थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तो पाते हैं—ब्राह्मणों ने जैनियों, बौद्धों और आजीवकों पर विशेष कर लगाए थे। कौटिल्य आजीवकों को अपना दुश्मन समझता था। उसने विधान किया है कि जो कोई आजीवकों और बौद्धों को

भोजन खिलाता है, उस पर 100 पणों का जुर्माना लगाना चाहिए।—जैनियों और बौद्धों से प्रति परिवार के हिसाब से कर लिया जाता था, जबकि आजीवकों से यह प्रति व्यक्ति के हिसाब से लिया जाता था।¹⁴⁶ जाहिर है कि कर उन्हीं पर लगाया जाता है जो कर देने की कुव्वत रखते हैं। कर लगाने की दूसरी मंशा यह भी हो सकती है कि आजीवक अपने समकालीन शासक वर्ग के लिए चुनौती बने थे, जिसके कारण उन्हें शासक वर्ग के धर्म-संप्रदाय में शामिल होने के लिए का दबाव बनाने और हतोत्साहित करने के लिए उन पर टैक्स लगाए जाते थे। उल्लेखनीय है कि आजीवकों पर जैनों और बौद्धों की तर्ज पर परिवार के आधार पर टैक्स न लगाकर, प्रति व्यक्ति टैक्स लगाना, आजीवकों की प्रगतिशीलता और समृद्धि का द्योतक लगता है, न कि किसी पिछड़ेपन का।

आजीवकों का स्वतंत्रतावाद इस संस्कृति की एक अनूठी विरासत है जो रूसो के सामाजिक सविदा (Social Contract) के पहले वाक्य—‘मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है और हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है यानी Man is born free and everywhere he is in chains, को सिरे से झुठलाता नजर आता है। हमें खुशी है कि यह प्रत्यक्ष अनुभववाद और विज्ञानवाद की बदौलत अस्तित्व में आता है। इस संस्कृति की प्राथमिकता ‘व्यक्ति’ है, इसलिए कुछ लोग इस संस्कृति के व्यक्तिवादी होने की बात करते हैं। इसे ओशो के नजरिए से देखें अगर, तो एक अलग ही तस्वीर उभरती है। इसके अनुसार—‘गोशालक बड़ा स्वतंत्र है। अनुशासन मुक्त, आदत

शून्य व्यक्ति था। अनप्रेडिक्टेबल।’ इसके बाबत कुछ घोषणा नहीं की जा सकती कि गोशालक कल क्या करेगा। कल ही तय होगा। कल आने दो। क्षण-क्षण जीने वाला था।¹⁴⁷ इस टिप्पणी के आधार पर कह सकते हैं कि आजीवक संस्कृति का अनुगामी जन किसी भी पूर्व निर्धारित मान्यता, परंपरा, विचार का गुलाम नहीं है। अगर डॉ. आंबेडकर से शब्द उधार लेकर कहें तो इस संस्कृति का पोषक खुद को ‘निरंतर प्रयोगात्मक स्थिति’ में रखता है और चारों ओर मौजूद प्रकृति और परिस्थितियों के अनुरूप यह खुद को अपडेट करता रहता है। निस्संदेह, यह अपडेट करते रहने की प्रवृत्ति किसी भी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र व मानवता की प्रगतिशीलता की परिचायक है।

जहां तक ईश्वर, आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म यानी पारलौकिकता का प्रश्न है, यह आजीवक के स्वतंत्र, अनुभवजन्य और वैज्ञानिकता पर आधारित चिंतन-दर्शन के विपरीत है; इसलिए यह संस्कृति इन सब का नकार करती है। ये शरीर को ही आत्मा मानते हैं। इसलिए आजीवकों के यहां चार पुरुषार्थों यानी अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष में सिर्फ ‘काम’ ही एक मात्र पुरुषार्थ है। इस संस्कृति में ‘मोक्ष’ की अवधारणा नहीं है तो यह संस्कृति ‘धर्म’ को अनावश्यक मानती है। जहां तक ‘अर्थ’ का प्रश्न है, न इनका धन के संग्रह में कोई दिलचस्पी है और न ही इसके पीछे भागना इनकी नियति है। आजीवक अपनी स्थापनाओं के मामले में काफी स्पष्ट हैं, इनके यहां किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं है। इनका सब कुछ प्रत्यक्ष अनुभव और तर्क-विवेक पर

आधारित है। इसे ओशो के शब्दों में कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है—‘गोसाल ईश्वर को नहीं मानते थे। गोसाल ईश्वर से संबंधित सवालों के जवाब में कहता है, किसको पता? कौन जानता है? कैसे कोई जान सकता है? इतना निश्चित है, कभी अगर बनाया हो किसी ने, तो हम तो मौजूद न थे। क्योंकि हम तो बनाने के बाद ही मौजूद हो सकते हैं। हम तो बनाए गए। हम तो मौजूद न थे, जब बनाया गया होगा। तो अब उपाय कहां है जानने का, कि किसने बनाया?’⁴⁸

हम जिस वर्तमान दौर से गुजर रहे हैं, उस दौर में ईश्वर के होने या न होने के विषय में स्पष्टता होना आवश्यक है; क्योंकि हमारे जीवन की गति-विधियों के केन्द्र में इसकी व्याख्या व प्रासंगिकता तय करने वाला धर्म आ गया है। यही देश की राजनीति व जन साधारण के आचरण का भी केंद्र बन गया है। हमारे चारों ओर जितने भी विवाद मौजूद हैं उनके मूल में किसी न किसी रूप धर्म का धंधा और धर्म की राजनीति मौजूद है। यहां घटनाओं का विवरण जरूरी नहीं, क्योंकि यह किसी से छिपा नहीं है। सिलंका ने भी आस्तिक की व्याख्या पर आजीवक दृष्टिकोण से विचार किया। उनके अनुसार—‘इसी प्रकार सुख और दुःख ईश्वर के माध्यम से नहीं आते हैं। (यदि वे आते हैं, तो) क्या ईश्वर सृजित है या निराकार है? अगर वह साकार है तो उसमें सभी चीजों को बनाने की क्षमता नहीं है, जैसाकि साधारण मनुष्य (जिसका भी साकार है) में है। अगर वह निराकार है, तो उसकी निष्क्रियता खाली जगह (जो

भी निराकार है) से ज्यादा होनी चाहिए। इसके अलावा, अगर वह जुनून और अन्य (भावनाओं) के अधीन है, क्योंकि वह हमसे (नश्वर) श्रेष्ठ नहीं है, तो वह ब्रह्मांड का निर्माता नहीं है। और अगर वह जुनून से रहित होता तो दुनिया में भगवान और गरीब आदमी के अच्छे और बुरे भाग्य की विविधता, जो उसने बनाई है, नहीं होती। इसलिए ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है।’⁴⁹

आजीवक संस्कृति के बहाने मेरे मन में एक प्रश्न बार-बार कौंधता है—ईश्वर, आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म यानी पारलौकिकता का जनक और व्याख्याता कौन है? मुझे लगता है कि यह कबीर-रैदास और आजीवक जैसे सांसारिक लोगों का काम नहीं है; क्योंकि ये सभी तो लौकिक जगत में रहते हुए, अपनी रोजी-रोटी के सवालों से जूझते हुए, इसी जगत की चुनौतियों को समझने, उनका मूल्यांकन करने और समाधान करने में अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। लेकिन सवाल अब भी अपनी जगह मौजूद है, तो फिर कौन? जाहिर है, ये वे लोग हैं जो अपने-आपको धर्म के प्रतीक, इसके करता-धरता और इसके वजवाहक समझते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि प्रमुख रूप से यह कार्य ब्राह्मणों ने किया है ताकि ये अपने खुद के और अपने समाज के सामाजिक, आर्थिक और अन्य सभी प्रकार के हितों और श्रेष्ठता को चिरस्थायी बनाए रख सकें। इसमें समाज के सार्वभौमिक हितों की सुरक्षा होना संभव नहीं है; क्योंकि समाज के हितों को बोना करके यानी रोंधकर ही इन्होंने अपने कद को बढ़ाने के लिए पारलौकिकता व्यूह रचना की

है।

अपने पूर्व-नियोजित लक्ष्य की पूर्ति के लिए इन्होंने संसार का त्याग कर (जो मानसिक व आत्मिक रूप में होता नहीं है, त्याग का श्रेय लेने के लिए ऐसा किया जाता है।) जंगलों, पर्वतों या उन निर्जन स्थानों को अपनी शरणस्थली बनाया होगा, जहां सांसारिक जीवन से जुड़े क्रियाकलाप, चुनौतियां वगैरा इनके चिंतन-दर्शन की परिधि से बाहर हो गए होंगे। यह इनके वजूद और श्रेष्ठता के लिए चुनौती भी हो सकता है। बहुत संभव है कि इनके पास अपने वर्चस्व और श्रेष्ठता स्थापित करने या बनाए रखने के लिए ईश्वर, आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म यानी पारलौकिकता से जुड़े विषयों पर विचार के अलावा बचता ही क्या है? हां, अगर ये संसार की समस्याओं को लेकर कहीं भी एकांतवास में गए होते तो निस्संदेह इनका प्रत्येक कदम सराहनीय व अनुकरणीय होता। लेकिन ऐसा नजर नहीं आता; मजे की बात है कि अपने पारलौकिक विषयों को लेकर इन्हें आना भी इसी संसार में पड़ता है, जिससे से तथाकथित एकांतवास में भी मुक्त नहीं हो पाते। यही वह संसार है जहां ये अपनी श्रेष्ठता व वर्चस्व का लोहा मनवाने के लिए समाज में ईश्वर, पाप-पुण्य, लोक-परलोक का प्रचार-प्रसार करते हैं। अनेक प्रकार के डर को पैदा करते हैं और इस डर से मुक्ति के लिए स्वयं ही स्नान, व्रत, दान, यात्रा, यज्ञ आदि का विकल्प सुझाते हैं।

दूसरे शब्दों में, ये कस्तूरी मृग की तर्ज पर, इंसान को मोक्ष रूपी कस्तूरी के चक्कर में उलझा देते हैं। इसे दूढ़ते रहने के चक्कर में इंसान का एक

मूल्यवान जीवन अपने अंत को प्राप्त हो जाता है। लेकिन इनके हित चिरस्थायी बने रहते हैं। इसके विपरीत, आजीवक संस्कृति में निर्वाण यानी लोभ, काम, क्रोध, वासना आदि से निवृत्ति का साक्षात्कार हर कदम पर होता रहता है, यही परमानंद और सुकून के अवस्था है। इस कड़ी सवाल तो बनता है—जब देश-दुनिया के महान वैज्ञानिक, दार्शनिक, समाज विज्ञानी आदि इसी संसार में और घर-परिवार की जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए, एक से एक बड़ा शोध और अविष्कार कर मानव कल्याण कर सकते हैं तो ये तथाकथित धर्म-ध्वजवाहक ऐसा क्यों नहीं कर सकते? क्या बुद्धिज्म, जैनीज्म, सिक्खीज्म, इस्लाम, ईसाइयत आदि का उदय और विकास जंगलों, पहाड़ों जैसे एकांतवास की देन हैं? यह अलग से शोध का विषय हो सकता है।

इस कड़ी में आजीवकों के साथ सबसे बड़ी साजिश नियतिवाद को लेकर हुई है। नियतिवाद को 'अकर्मण्यवाद' कहकर इनके खिलाफ, खाप पंचायतों जैसा इकतरफा फतवा सुनाया जा रहा है। आजीवक संस्कृति को निकम्मेपन, निठल्लेपन और भाग्यवाद की भट्टी में झोंकने का प्रयास किया जा रहा है। लेकिन एक हकीकत यह भी है कि सत्य पराजित नहीं किया जा सकता। इसे सिलंका की टिप्पणी से समझने का प्रयास करते हैं। इसके अनुसार—'अब नियतिवादी अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। (शब्द) संगम्यम (पाठ में) का तात्पर्य आंतरिक विकास द्वारा पूर्ण रूप से स्थानांतरण से है। सभी सुख और दुख का अनुभव जो भी हो, वह संयोगवश होता है। इसमें नियति का

“नियतिवाद भाग्यवाद नहीं है, बल्कि वह प्रकृतिवाद है जिसे आदिवासियों के बीच आज भी देखा जा सकता है। आदिवासी दर्शन परंपरा यह मानता है कि सब कुछ प्रकृति-सृष्टि के अधीन है। मनुष्य अपने पराक्रम से उसमें कोई हेर-फेर करने की क्षमता नहीं रखता है। आदिवासी दर्शन की समझ नहीं रखने के कारण दर्शन और इतिहास के अध्येता आजीवकों के दर्शन को नियतिवाद मान बैठे।”

अर्थ है उसका (यानी संयोग का) अनिवार्य स्वरूप संयोगवश होता है। वे कहते हैं कि चूंकि सुख और दुख आदि मानवीय क्रियाकलापों से उत्पन्न नहीं होते, इसलिए सभी प्राणियों के लिए वे भाग्य द्वारा उत्पन्न होते हैं और संयोगवश होते हैं।⁵⁰

हम सिलंका के विचार 'सुख और दुख आदि मानवीय क्रियाकलापों से उत्पन्न नहीं होते, ... भाग्य द्वारा उत्पन्न होते हैं' से असहमति दर्ज करते हुए हम 'संयोगवश होते हैं' से सहमत होते हुए, हम कह सकते हैं कि नियति का अर्थ संयोग है, और संयोग का कोईसिडेंस की श्रेणी में रखकर इसे भाग्यवाद की श्रेणी रखना शरारतपूर्ण कृत्य है। ऐसे में सवाल उठता है तो फिर संयोग क्या है? इसके उत्तर की तलाश में जब हम इसका संधि-विच्छेद करते हैं तो पाते हैं, यह 'सम्+योग' होता है जिसमें सम् का अर्थ 'एकत्रित करना या जुड़ना' है। इस संदर्भ में रेखांकित करने वाले हकीकत यह है कि संयोग प्रकृतिजन्य तो होता ही है मगर यह मानवजन्य भी होता है। इस कड़ी में पानी के बनने या अस्तित्व में आने को नियति के संदर्भ में व्याख्या करें तो पाते हैं—हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन का एक परमाणुका मिलन, पानी यानी H₂O के एक अणु की नियति है, इसे प्रकृतिजन्य की

श्रेणी में रख सकते हैं। यह हम की विभिन्न अवस्था में होने की बात नहीं कर रहे हैं। दिन-रात होना और ऋतुओं का बदलना भी पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर विभिन्न अवस्था में परिक्रमा और घूर्णन का परिणाम है। इसे दिन-रात बनने या ऋतुओं के बदलने की नियति कह सकते हैं।

इस कड़ी में नर और मादा के आपसी परिस्थिति विशेष के अनुरूप संयोग से उनकी नस्ल की उत्पत्ति होती है, उनकी वंश परंपरा आगे बढ़ती है। यह प्रत्येक नस्ल विशेष की अपनी नियति है। जैसा खान-पान यानी पोषण होगा और जैसा इनका पर्यावरण होगा, उसके अनुरूप इनका विकास होता रहेगा और एक अवस्था के उपरांत इनका अंत होगा। इसमें प्रकृति और इससे बाहर के कृत्य/परिस्थितियों की अपनी अलग भूमिका है। जो उत्पन्न होता है, उसकी नियति उसके अंत यानी मृत्यु है। हमारे जीवन से जुड़ा प्रत्येक पहलू जैसे हंसना-रोना दुख-सुख, सफलता-असफलता आदि कुछ निश्चित प्रकार के क्रियाकलापों के संयोग से होता है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारे निश्चित प्रकार के क्रियाकलापों के कुछ निश्चित प्रकार के परिणाम होना उनकी नियति है। यह पूरी तरह वैज्ञानिकता व व्यवहारिकता पर आधा-

रित है। नियति की इस पूरी प्रक्रिया में क्रियाशीलता और संयोग की भूमिका केंद्रीय यानी सार्वभौमिक प्रवृत्ति के रूप में मौजूद रहती है।

अश्विनी कुमार पंकज के माध्यम से थोड़ा सरल भाषा में समझते हैं- 'नियतिवाद भाग्यवाद नहीं है, बल्कि वह प्रकृतिवाद है जिसे आदिवासियों के बीच आज भी देखा जा सकता है। आदिवासी दर्शन परंपरा यह मानता है कि सब कुछ प्रकृति-सृष्टि के अधीन है। मनुष्य अपने पराक्रम से उसमें कोई हेर-फेर करने की क्षमता नहीं रखता है। आदिवासी दर्शन की समझ नहीं रखने के कारण दर्शन और इतिहास के अध्येता आजीवकों के दर्शन को नियतिवाद मान बैठे।⁵¹ जाहिर है, यह नियतिवाद प्रकृति के संबंध में है। प्रकृति के अनुशासन से प्रेरणा लेकर कोई भी इंसान निरंतर एवं निस्वार्थप्रयासों से जीवन में किसी भी बुलंदी को हासिल कर सकता है, जिसमें कुछ न कुछ नया करने व सीखने के दरवाजे कभी बंद नहीं होते। यहां जैनियों की सर्वज्ञता या ईश्वर जैसी पूर्णता के लिए कोई जगह नहीं है। इसलिए यहां ईश्वर और पारलौकिकता के लिए कोई स्थान नहीं है।

डा. धर्मवीर इसी सर्वज्ञता को कठारे में खड़ा करते हुए कहते हैं- 'जैन साधना-पद्धति से गुजरकर जो व्यक्ति परम स्थिति को पहुंचता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। यह जैनों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत है-सर्वज्ञ। तो गोशालक से ठीक बिल्कुल विपरीत हो गई बात। गोशालक कहता है जो जानता है, वह तो जानता है कि कुछ भी नहीं जानता। गोशालक से सुकरात की दोस्ती बन

जाती है। गोशालक से सार्त्र और कामू की और काफ़का की दोस्ती भी बन जाती है। नीत्शे भी गोशालक के पास बैठता तो मैत्री अनुभव करता-लेकिन जैन कैसे मैत्री अनुभव सकते हैं?⁵² इसे ओशो के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं। ओशो अपने संवाद में आगे कृष्ण के विचार- 'ईश्वर करता है, कर रहा है' के विरुद्ध गोशालक को ले आते हैं, जो कहता है, कोई ईश्वर है, पता नहीं। इतना तय है कि आदमी के पुरुषार्थ से कुछ भी नहीं होता। जो होता है, वही होता है। कभी हो जाता है तो तुम सोचते हो, हम जीत गए। कभी नहीं होता तो तुम सोचते हो, हम हार गए, लेकिन जो होना था, वही होता है। जब हो जाता है, तुम अकड़ जाते हो। जब नहीं होता, तुम सिकुड़ जाते हो। तुम नाहक अकड़ते-सिकुड़ते हो। तुम नाहक जीतते-हारते हो। जो होना है वही होता है।⁵³

उपरोक्त टिप्पणी में एक वाक्य- 'आदमी के पुरुषार्थ से कुछ भी नहीं होता' एक साजिश का हिस्सा लगता है, जाने-अनजाने ओशो भी इसमें शामिल हो गए लगते हैं, जबकि आजीवक गृहस्थ जीवन के साथ-साथ कमा कर खाने में विश्वास रखते हैं। वे पहले ही पुरुषार्थ के तीन अव्यव यानी अर्थ, धर्म और मोक्ष को नकार कर सिर्फ 'काम' को सब कुछ मान कर चलते हैं। यदि हम डाक्टर/इंजीनियर बनने का लक्ष्य लेकर, इसके अनुरूप अपनी कार्य योजना को अंजाम देते हैं तो जो भी मार्ग खुलेगा, वह डाक्टर/इंजीनियर के व्यवसाय की ओर ले जाता है। यह हमारे प्रयासों यानी 'काम' की नियति है। यह प्रक्रिया हमारे जीवन के हर

क्रियाकलाप की नियति के रूप में हमारे सामने आती है। इसे कार्यकारी यानी कर्म का सिद्धांत कह सकते हैं। गौरतलब है, इसे विशुद्ध परिणाम भी कह सकते हैं, यह व्यक्ति द्वारा दिशा विशेष में उठाए गए कदमों की कार्य कुशलता पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि प्रकृति अपने स्तर पर और इंसान अपने स्तर पर नियति का निर्धारित करता है। इसे (इ+इ)2=2+इ2+2 'इ' के माध्यम से एक लाइन में समझ सकते हैं। यह इंसानी प्रयासों ने तय किया है कि (इ+इ)2 की नियति/परिणाम सदैव 2 + इ 2 + 2 'इ' ही होगा। इसमें अकर्मण्यवाद और भाग्यवाद का कोई लेना-देना नहीं है। यह साजिश नहीं तो क्या है कि आजीवकों के काम की सर्वोच्च प्राथमिकता के बावजूद इसे जबरन 'अकर्मण्यवाद' या भाग्यवाद के खांचे में फिट करने का दुस्साहस किया जाता है? क्या सिंधु घाटी से शुरू हुई कोई भी सभ्यता-संस्कृति मात्र भाग्यवाद या अकर्मण्यवाद के भरोसे चौदहवीं शताब्दी जैसी लंबी अवधि तक ज़िंदा रह सकती है। लेकिन 'अकर्मण्यवाद' लोग हैं कि अपने हास्यास्पद तर्कों से आज भी बाज नहीं आते।

मौजूदा संदर्भ में यह समझना प्रासंगिक है कि जैन आजीवकों के विरोध में क्यों खड़े थे। आचार्य रजनीश, जो मूल रूप में एक जैन परिवार से आते हैं के अनुसार- 'जैन नाराज हैं। क्योंकि जैनों का तो सारा आधार चरित्र है, अभ्यासजन्य। इंच-इंच हिसाब बांध कर चलना है। जरा-सी भूल-चूक न हो जाए। सिद्धांत से यहां-वहां चिंतन हो जाए। सब संहालकर लीक पर चलना है।'⁵⁴ इस प्रकार के जीवन को कोल्हू

के बैल की संघ नहीं दी जानी चाहिए, जिसकी आंखों पर पट्टी बंधी है, क्योंकि इस बैल और 'इंच-इंच हिसाब बांध कर' चलने में व्यक्ति के व्यक्ति होने के लिए कुछ बचता ही कहां है; क्योंकि व्यक्ति की बुद्धि और विवेक ही तो है जो उसे पशुओं से अलगवा है। क्या आज का इंसान धर्म के नाम पर रोबोट बनकर नहीं रह गया है? इतना दावे से कहा जा सकता है कि आजीवक संस्कृति रोबोट बने व्यक्ति को पुनः उसकी मौलिक अवस्था 'इंसान' के रूप में लौटाने की कुव्वत रखता है।

नाराजगी की कड़ी में ब्राह्मण के विरोध को न समझा जाए तो विषय के साथ नाइंसाफी होगी। द्रविडियन एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार- 'ब्राह्मण लोग आजीवकों को तिरस्कार की भावना से देखते थे। मक्खलि गोसाल ने ब्राह्मण पर हमला बोला था। ब्राह्मणों की बनाई समाज व्यवस्था से असंतुष्ट लोग आजीवक धर्म से जुड़ गए थे-मक्खलि गोसाल ने जाति व्यवस्था की आलोचना करते हुए कर्मवाद की नई व्याख्या प्रस्तुत की थी। इसलिए, अधिकतर लोग उन के अनुयायी हो गए थे। इतना ही नहीं, राज दरबार से जुड़े हुए और अन्य धनी लोग भी उन से जुड़ गए थे।'⁵⁵ जैसाकि ऊपर बताया गया है कि आजीवक संस्कृति रोबोट को इंसान बनाने की क्षमता रखती है। स्वतंत्रता किसे प्यारी नहीं है? जाहिर है, इसी स्वतंत्रता का लाभ उठाने के लिए अधिकतर लोग ब्राह्मण की बनाई समाज व्यवस्था से बगावत कर गोसाल के कर्मवाद का अनुसरण के लिए आजीवक बन गए होंगे। असंतुष्टता की श्रेणी में ब्राह्मण भी हो सकते हैं, इससे इंकार

नहीं किया जा सकता। ऐसा करना साहस की बात है, जिसका वर्तमान भारतीय समाज में नितांत अभाव है।

विषय की स्पष्टता के लिए पुनः ओशो के पास में चलते हैं- 'अज्ञान (हमें यहां उल्लेख करना जरूरी महसूस हो रहा है कि ज्ञान वह है जिसकी कोई सीमा नहीं है) अनंत ज्ञान का इतना बड़ा समर्थक कभी कोई हुआ ही नहीं। तो जैनों को सबसे ज्यादा कष्ट इस आदमी से रहा होगा। इसको जैन कहते हैं, उदंड, कलहप्रिय, विवादी। यह जैनों की व्याख्या है। यह कलहप्रिय जैनों को मालूम हुआ होगा। क्योंकि जैन दावा कर रहे थे कि हमारा गुरु सर्वज्ञ है। अल्पज्ञ होना भी संभव नहीं, अज्ञ होना भी संभव नहीं।'⁵⁶ हमें लगता है कि आजीवक संस्कृति सुकरात के करीब है, जो दावा करते हैं 'एकमात्र सच्चा ज्ञान यह जानना है कि हम कुछ भी नहीं जानते'। अगर इसे वर्तमान की रोशनी में समझें तो हमारे सामने एप्पल के संस्थापक स्टीव जॉब्स का लोकप्रिय विचार 'स्टे हंगरी, स्टे फुलिश' आजीवक संस्कृति के आधुनिक संस्करण के रूप में हमारे सामने आता है, क्या नहीं? क्या किसी व्यक्ति, ईश्वर या किसी की भी सर्वज्ञता के समक्ष व्यक्ति का समर्पण हमारे पिछड़ेपन और सारे विवादों की जड़ नहीं है? क्या सर्वज्ञता के प्रति अंधभक्ति ने इंसानों को नवाबों (आज के धार्मिक और राजनीतिक सत्ता-धारियों) के मनोरंजन के मुर्गे बनाकर नहीं छोड़ दिया है? ये नवाब इन मुर्गों की गर्दन पकड़कर आपस में लड़ाते रहते हैं। मुर्गे इससे निरंतर लहलुहान होते रहते हैं और नवाब खिलखिलाते रहते हैं। हमारा मानना है कि आजीवक

संस्कृति इस नवाब और मुर्गा संस्कृति से मुक्ति का शानदार विकल्प हो सकती है।

विषय के समापन की ओर बढ़ते हुए आजीवक संस्कृति की प्रासंगिकता पर विचार करना अनिवार्य महसूस हो रहा है। आजीवक संस्कृति चूंकि पारलौकिकता में विश्वास नहीं करती, इसलिए यह इस पृथ्वी को अंतिम शरणस्थली मानते हुए इसे ही स्वर्ग बनाने की पक्षधर है, जहां सुख और सुकून, व्यक्ति और समाज की प्राथमिकता होते हैं। यहां सुख का अर्थ निजी धन-दौलत, शौहरत वगैरा से एक कदम आगे बढ़कर गुणात्मक/आत्मिक सुख के लिए पुरुषार्थ करना है, जो सुख की सार्वभौमिकता की पगडंडी है। इसके लिए श्रमण यानी सीकर/खोजी होने की जरूरत है, जो हमें चार्वाक/आजीवक परंपरा के संवाहक कबीर, रैदास जैसे संतों के तर्क-विवेक व वैज्ञानिकता की जीवनशैली में मुखरता से मौजूद नजर आती है।

जाहिर है, वैज्ञानिकता से आत्म-विश्वास और वैचारिक स्पष्टता आती है। यह हमारे दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों को सार्वभौमिक स्वीकार्यता की श्रेणी में लाकर खड़ा करती है। इसके विपरीत आस्था व अंधश्रद्धा, व्यक्ति को किसी व्यक्ति, पुस्तक/ग्रंथ, परंपरा, रीति रिवाज की गुलामी की ओर धकेलती है। यह गुलामी व्यक्ति के आंतरिक व बाह्य संसाधनों को कुंद कर मानवता को अपूरणीय क्षति पहुंचाती है। सभ्यता व संस्कृति के पतन का सबब बनती है। चार्वाकों (आजीवकों) की इस अनूठी विरासत के साथ खड़े होकर डा. विकास दिव्यकीर्ति देश के दूसरे राष्ट्रपति

सर्वपल्ली राधाकृष्णन की टिप्पणी के हवाले से बताते हैं-‘चार्वाक (आजीवक) न होते तो अपना सारा चिंतन-दर्शन भाटवादी हो जाता, चारणवादी हो जाता। इन्होंने रूढिवाद से छुटकारा दिलाने में मदद की। इन्हीं की वजह से कई लोग रास्ते पर रहे वरना...।’⁵⁷

यहां ‘रूढिवाद से छुटकारा’ ‘कई लोग’ और ‘वरना’ के बाद जो खाली स्पेस है, वह बहुत कुछ कहता है, जो भारत के चिंतन-दर्शन को चारणवादी होने के कलंक से बचाता है। यदि ये ‘कई लोग’ कई न रहकर काफी लोग हो जाते तो संभव है चार्वाक/लोकायत ग्रंथों को जलाया नहीं गया होता। अगर ऐसा होता तो विश्व में आजीवक संस्कृति का बोलबाला होता और आविष्कारों की दुनिया में भारत अग्रणी पंक्ति में शुमार होता। यह टिप्पणी वर्तमान ‘विश्वगुरु’ के तमाशे जैसी खोखली व आधारहीन बुनियाद पर नहीं, बल्कि आजीवक संस्कृति, जिसे विकास दिव्यकीर्ति मैथेडिक डाउट पर आधारित बताते हैं, हम इसे लॉजिकल डाउट पर आधारित संस्कृति कहते हैं, की ठोस बुनियाद पर खड़ी है। हम दिव्यकीर्ति की टिप्पणी-‘अगर चार्वाक दर्शन बचाया गया होता तो यूनिवर्सिटी के हर विभागाध्यक्ष के नाम के सामने चार्वाक लिखा होता।’ को पुनः दोहराना चाहते हैं, क्योंकि यह इतिहास की भयंकर भूल के दुष्प्रभाव का आईना प्रस्तुत करती है।

जो व्यक्ति ईश्वर की गोद में बैठकर, नियतिवाद को गाली देने के नित नए हथकंडे अपनाते हैं और आजीवक संस्कृति को बदनाम करते हैं। हम उन महानुभावों से पूछना चाहते हैं कि हमारे

चारों ओर का बहुसंख्यक समाज, व्यक्ति के जीवन में जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक, अच्छा या बुरा, जो भी होता है, वह उसे ईश्वर/अल्लाह की मर्जी बताता है। इसका अर्थ है कि हमारे जीवन में जो कुछ भी होता है, वह हम नहीं, ईश्वर/अल्लाह करता है। इस नजरिए से देखें तो सवाल उठता है-अकर्मण्यवादी कौन है? भाग्यवादी कौन है? इन प्रश्नों के उत्तर पाना कोई रॉकेट साइंस नहीं है। क्या यह वह नहीं, जो नियतिवाद की आधारहीन व्याख्या कर, इसे अकर्मण्यवाद व भाग्यवाद के कठारे में खड़ा करता है। यह वह स्थिति है, जिसमें भैंस अपना रंग देखती नहीं और छतरी से डरती है।

डा. विकास दिव्यकीर्ति अपने यू-ट्यूब चैनल पर चौथे एपीसोड में चार्वाक के वेदों से पहले होने के कई स्पष्ट संकेत देते हैं, जिसका लब्बोलुआब कुछ इस प्रकार हैं-‘एक-वेदों में सुखवाद लिखा मिलता है, यह बताता है चार्वाक वेदों से पहले हैं। वेदों में शक्ति मांगने पर बल है ताकि वे अपने शत्रु पर अपना वर्चस्व कायम कर सकें, (संभवतः यहां उनके शत्रु मूलनिवासी यानी चार्वाक/अनार्य/सैंधव ही हैं जिनकी चर्चा हम इसी आलेख में पहले कर चुके हैं) दो-उपनिषद काल में ऋषि वनों व पर्वतों पर जाने लगे थे। यही काल है जहां ईश्वर की सर्वोच्चता स्थापित होती है। तीन-वेदों में ज्ञान की तलाश बाहर है और उपनिषदों में अंदर और यहीं से वैराग्य को बल मिलता है।’⁵⁸ इससे संकेत मिलता है कि वेदों की सांसारिकता का विकास पारलौकिकता में होता है। बहुत संभव है कि इस काल में ईश्वर, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, आत्मा-परमात्मा, पाप-

पुण्य आदि की दार्शनिकता को बल मिला, जो आज अपने चर्म की ओर अग्रसर है। दिव्यकीर्ति की टिप्पणी-‘इसी काल में भारत में ही नहीं पूरे विश्व में ईश्वर की सत्ता का भरपूर विकास हुआ।’⁵⁹

चार्वाक के पक्ष में दिव्यकीर्ति एक और महत्वपूर्ण जानकारी साझा करते हैं-‘यह दुनिया अणु से बनी हैं; यह बात 2300 साल पहले मक्खली गोसाल ने कह दिया थी।... आजकल एआई यानी आर्टिफीशियल इंटेलिजेंस और चैट जीपीटी के जमाने में चार्वाक के तर्क प्रमाणित सिद्ध होते नज़र आते हैं। जीवित शरीर ही आत्मा है।’⁶⁰ लेकिन दुखद है कि आजीवक के समर्थक ऊपर वर्णित ‘कई लोग’ कई लोगों तक ही सिमट कर रह गए हैं; और बहुसंख्यक आज भी चार्वाक/आजीवकों को ‘पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा, यावत्पतति भूतलो, उत्थाय च पुनः पीत्वा, पुनर्जन्म न विद्यते॥’ यानी पीओ, पीओ पुनः पीओ जब तक पीते-पीते जमीन पर गिर न जाओ और जब उठो तो फिर से पीओ क्योंकि पुनर्जन्म नहीं है, जैसे फतवे जारी कर आजीवकों को आरोपित करते हैं। आज का बहुसंख्यक जो आस्था के आडंबर को ओढ़कर उन्हीं रूढिवादी परंपराओं को ढो रहा है, जिनसे छुटकारा पाने का श्रेय डा.राधा-कृष्णन चार्वाक/आजीवक यानी भौतिक-वादी/विज्ञानवादी/संदेहवादी संस्कृति के संवाहकों को दे रहे थे। ये रूढिवादी ही हैं जो अपने रूढिवाद को औचित्य सिद्ध करने के लिए वसीम बरेलवी के शेर में आश्रय और सुकून तलाशते हैं, जो इस प्रकार है-‘सलीका ही नहीं शायद उसे महसूस करने का, जो कहता

है, खुदा है तो नजर आना जरूरी है।' दरअसल, चार्वाक/आजीवक कोई धर्म नहीं है, बल्कि एक वैज्ञानिकता की पोषक जीवनशैली है। आजीवक संस्कृति के संवाहक इस सुकून को धार्मिक रोग कहते हैं और मार्क्स इसे अफीम की संज्ञा देते हैं। इस मानसिक विकार के चलते ही आज चारों ओर धर्म के नाम पर जितने फसाद हो रहे हैं, उतने फसाद अन्य किसी मसले को लेकर नजर नहीं आते। हम जानते हैं कि धर्म का इतिहास विज्ञान को दबाकर अपने नियंत्रण के रखने का रहा है। लेकिन विज्ञान है कि हर कीमत चुकाकर भी अपनी उपस्थिति दर्ज करता चला आ रहा है। नहीं भूलना चाहिए-अगर विज्ञान ने हार मान ली होती तो आज भी हम कबीला और आदिम युग में जी रहे होते और धार्मिक सत्ता भी उन सब उपकरणों का उपभोग नहीं कर रही होती, जिनकी वह गुलाम होकर रह गई है; और इन सुविधाओं पर इतराने में किसी से पीछे नहीं है। कीमत चुकाने की इस कड़ी में जियोर्दानो ब्रूनो (Giordano Bruno) जैसे व्यक्ति भी इतिहास में हुए हैं जिन्होंने खगोलीय पिंडों के विषय में अपने वैज्ञानिक निष्कर्षों को सार्वजनिक किया। परिणामस्वरूप, धर्म के कोपभाजन का शिकार हुए और उन्हें अफवाह फैलाने के जुर्म में जिंदा जलाकर मौत के घाट उतार दिया गया। इसी कड़ी में निकोलस कॉपरनिकस को अपने क्रांतिकारी शोध के कारण गंभीर आरोपों को झेलना पड़ा; और गैलिलियो गैलिली का नजरबंदी के चलते दुखद अंत भी किसी से छिपा नहीं है।

सुकरात को जहर पीकर अपनी

मौत को गले लगाना भी धर्म के सत्य, नैतिकता और तर्क-विवेक यानी वैज्ञानिकता के खून का मसला नहीं तो क्या है? इतिहास के इस खूनी खेल का सिलसिला आज भी जारी है और आजीवक संस्कृति का खून भी इसी श्रेणी में आता है। दरअसल, आजीवक संस्कृति के अनुसार धर्म वह है जो हमें प्रकृति के अनुशासन में नजर आता है-एकदम स्वाभाविक और निष्कलंक। अगर हम प्रकृति के नियतिवाद यानी न्याय और नैतिकता को अपने जीवन के सभी क्रियाकलापों में ईमानदारी से शामिल कर पाते तो इनकी सार्वभौमिक स्वीकार्यता होती और अमन चैन का एकछत्र साम्राज्य होता। अगर आजीवक संस्कृति विलुप्त न की गई होती और यह अपने निरंतर अपग्रेडेशन के साथ मौजूद होती तो तर्क-विवेक यानी विज्ञान का वर्चस्व होता; निस्संदेह जीवन के हर क्षेत्र में आविष्कार होते; नैतिकता और न्याय की तर्कयुक्त परिभाषाएं और उनका स्वाभाविक प्रचलन होता और भारत सच्चे अर्थों में विश्वगुरु जैसा कुछ होता। अंत में एक सवाल- 'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि धर्म और विज्ञान, दोनों कदम से कदम मिलाकर चलें और आपसी अमन चैन और प्रगति की नई और बेमिसाल इबारत लिखें? □ संदर्भ:

1. आचार्य आनंद झा, चार्वाक दर्शन, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान प्रभाग, राजर्षि पुरुषोत्तम टण्डन हिंदी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ, द्वितीय संस्करण 1983, प्राक्कथन, पृ. 8
2. -वही- पृ. 8-9
3. विकास दिव्यकीर्ति, यू-ट्यूब Episode 4] Charvak Philosophy% An Introduction
4. डा. एल. डी. बार्नेट, लेखक-ए. एल. बाशम, हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रिंस ऑफ द आजीवकाज, ए वेनिशड इंडियन रिलिजन, भूमिका।

5. ए. एल. बाशम, हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रिंस ऑफ द आजीवकाज, ए वेनिशड इंडियन रिलिजन, परिचय पृ. 3
6. -वही- परिचय पृ. 3
7. विकास दिव्यकीर्ति, Episode 4] Charvak Philosophy% An Introduction
- 8- Vinay Putaja infra] pp- 27ff
9. विकास दिव्यकीर्ति, यू-ट्यूब Episode 4] Charvak Philosophy% An Introduction
10. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 01
11. कांग्रेस और गांधी ने अछूतों के लिए क्या किया: मूल लेखक डा. अम्बेडकर, संकलन टिप्पणियां कुसुम मेघवाल, पृ. 30
12. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 01
13. बाबा साहेब डा. आंबेडकर, डब्लू एण्ड एस, खंड 4, पृ. 151
14. कश्यप, 'आदि भारत' (भारत का राजनीतिक व सांस्कृतिक विकास) प्रकाशक-वाणी विहार, बनारस, पृ. 67
15. डी. डी. कोसम्बी, एन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बम्बई, 1956, पृ. 68.
16. कंवल भारती, 'दलित धर्म की अवधारणा और बौद्ध धर्म' पृ. 24
17. डा. दीनानाथ वर्मा, विश्व इतिहास की झलक, ज्ञानदा प्रकाशन (पी.डी.) संस्करण 1995, पृ. 18
18. एम. व्हीलर, 'दि इंडस सिविलाइजेशन', हिस्ट्री ऑफ इंडिया का पूरक खंड, केंब्रिज 1953, पृ. 18
19. डा. दीनानाथ वर्मा, विश्व इतिहास की झलक-ज्ञानदा प्रकाशन (पीडी), नई दिल्ली पृ. 9
20. Dravidian Encyclopaedia] Vol- 1] The international School of Dravidian Linguistics] St- Xavier's College P-O- Thiruvananthapuram&695&086] First Edition] 1970 & 18
21. भगवई: विआहपण्णत्ती: खण्ड-4: शतक (12-16) (मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भाष्य तथा अमय देव सूरिकृत वृत्ति

एवं परिशिष्ट-शब्दानुक्रम आदि सहित), संपा. और भाष्यकार, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनू राजस्थान-341 306, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, 2007, पृ 313

22. राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक किताब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद, संस्करण 2007, पृ. 375

23. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 05

24. Haripad Chakraborti] Asceticism in Ancient India in Brahmanical] Buddhist] Jain and Ajivika Societies 'from the earliest times to the period of Sankaracharya' Punthi Pustak] 136@4B] Bidhan Sarani] Calcutta&700 004] Reprint] 1993] p]460 Work is wor-ship

25. -वहीं- च, 449-50

26. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भागI: (अ-औ) लेखक, क्षु. जितेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110 003, नौवां संस्करण, 2006, पृ. 201

27. वायु पुराण, अनुवादक, राम प्रताप त्रिपाठी शास्त्री, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12 सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1987, पृ.634

28. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.134

29. Haripad Chakraborti] Asceticism in Ancient India in Brahmanical] Bud- dhist] Jain and Ajivika Societies 'from the earliest times to the period of Sankaracharya' Punthi Pustak] 136@4B] Bidhan Sarani] Calcutta&700 004] Reprint] 1993] p]463 Work is wor-ship

30. -वहीं- पृ. 470

31. -वहीं- पृ. 454-55

32. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, भूमिका, पृ. 07-08

33. -वहीं-पृ.58

34. -वहीं- पृ.59

35. Haripad Chakraborti] Asceticism in Ancient India in Brahmanical] Buddhist] Jain and Ajivika Societies 'from the ear- liest times to the period of Sankaracharya' Punthi Pustak] 136@4B] Bidhan Sarani] Calcutta&700 004] Re- print] 1993] p]449&50

36. भगवई: विआहपण्णत्ती : खण्ड-4: शतक (12-16) (भूल पाठ, संस्कृत छाया, हिंदी अनुवाद, भाष्य तथा अमय देव सूरिकृत वृत्ति एवं परिशिष्ट-शब्दानुक्रम आदि सहित), सम्पादक और भाष्यकार, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनू राजस्थान-341 306, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, 2007, पृ. 313

37. Jataka (I) p- 390 and ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ. 10-111

38. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.113

39. Digha Nikaya ii] p-127

40. V- Supra] p- 62 and ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ. 275

41. -वहीं-p-64, 68 and-वहीं-pृ.275

42. -वहीं-p-131 and -वहीं-pृ. 117 P139-40

43. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ. 107

44. Karom] The Life of Buddha] plate 110_ also] Barabududur] vol- i] pp 220&1] V- Supra] p-94

45. V- Supra] p-94 and ,y ck'ke] fgLV^h ,.M MkWDV^hUl vkWiQ n vkthohdkt (, oSfu'kM bafM;u fjfytu) i`- 117

46. Dravidian Encyclopaedia] Vol-1] The international School of Dravidian Lin- guistics] St- Xavier*s College P-O- Thiruvananthapuram&695&086] First Edition] 1970 &18 Committed to prin- ciples

47. जिन-सूत्र: भाग-चार, ओशो, दिव्यांश पब्लिकेशन्स, एमआईजी-22, फेज-1, एलडीए टिकैत राय कालोनी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश-226

017, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 96

48. -वहीं-पृ. 94

49. ए एल बाशम, हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.231

50. Niyativadi svābhiprayam aviskaroti- Sangaiyamti eamyak arapariramenā gatih- Yasya yada yatra yat sukha&dukh&anubhavanam oa sangatith- Niyatis tasyam bhavam sangatikam- Y atas c aivam na purugakar &adi&krtam sukha&dukh&ādi] atas tat leam prāninam niyati&krtam sangalikam ity uyate] Silānka to Sa- kr-] loc- cit लेखक ए एल बाशम, हिस्ट्री एंड डॉक्ट्रीन्स ऑफ द आजीवीकाज (ए वैनिशड इंडियन रिलिजन) पृ.227

51. अश्विनी कुमार पंकज, 'खाँटी किकटिया' (मक्खलि गोसाल के जीवन पर आधारित मगही उपन्यास), प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, रांची, 2018, भूमिका

52. डा. धर्मवीर, महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए, दरियागंज, दरियागंज, दिल्ली, पृ.93

53. जिन-सूत्र: भाग-चार, ओशो, दिव्यांश पब्लिकेशन, एमआईजी-22, फेज-1, एलडीए टिकैत राय कालोनी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश-226 017, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 98-9

54. -वहीं- पृ. 95

55. Dravidian Encyclopaedia] Vol- 1] The international School of Dravidian Lin- guistics] St- Xavier*s College P-O- Thiruvananthapuram&695&086] First Edition] 1970 &17&8 Popularity of Aajivakas and Anti Hinduism

56. ओशो, जिन-सूत्र: भाग-चार, दिव्यांश पब्लिकेशन्स, एमआईजी-22, फेज-1, एलडीए टिकैत राय कालोनी, लखनऊ, उत्तर प्रदेश-226 017, प्रथम संस्करण, 2013, पृ. 95-6

57. विकास दिव्यकीर्ति, यू-ट्यूब,Episode 4] :w&VÔwc Episode 4] Charvak Philoso- phy% An Introduction

58. -वहीं-

59. -वहीं-

60. -वहीं- ---12772---

संपर्क: G-401, Habitat Apartments] Vasundhara Enclave, Delhi-110096